मार्च 1983

आजकल

एक रुपया

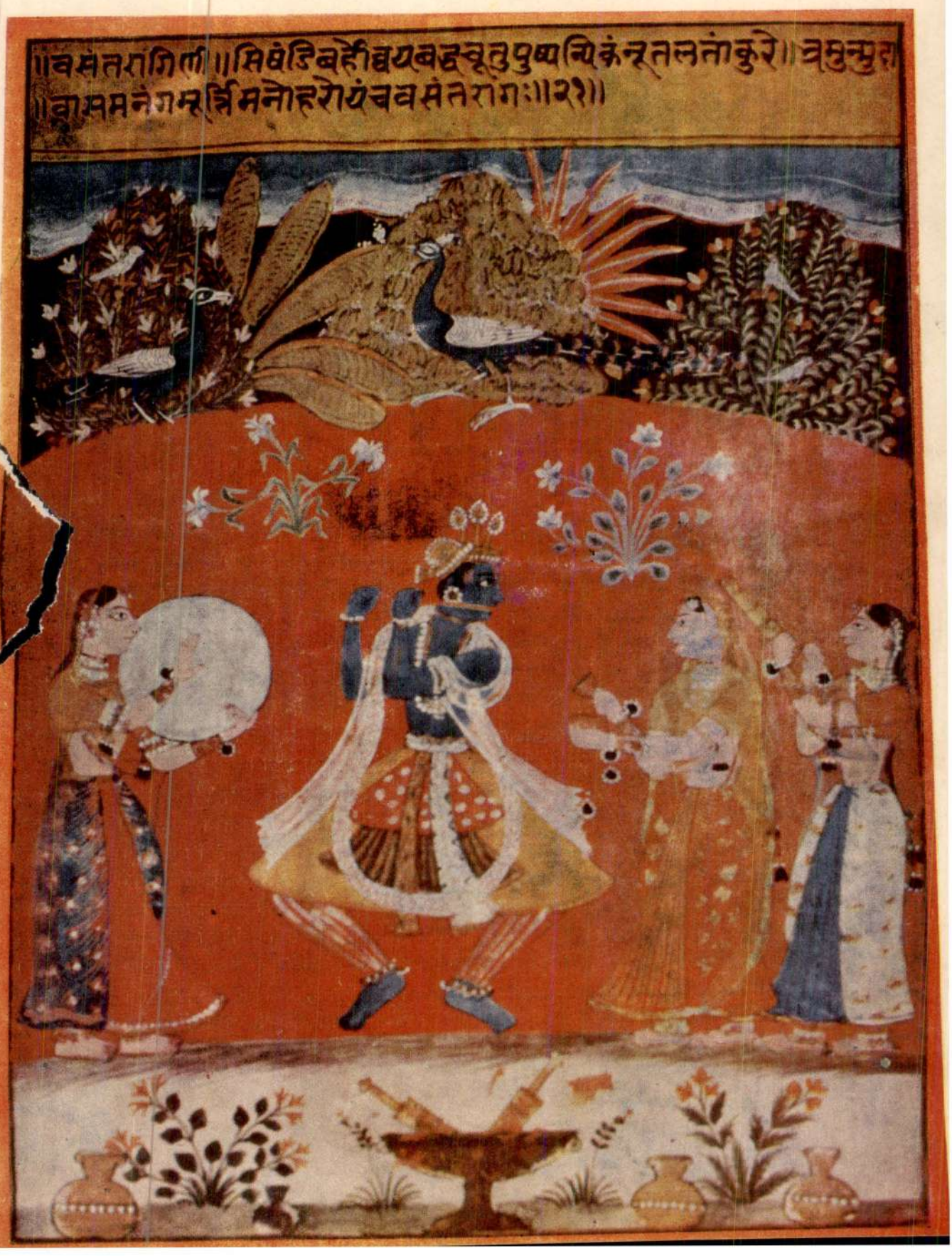

वातायन

लंदन विश्वविद्यालय में

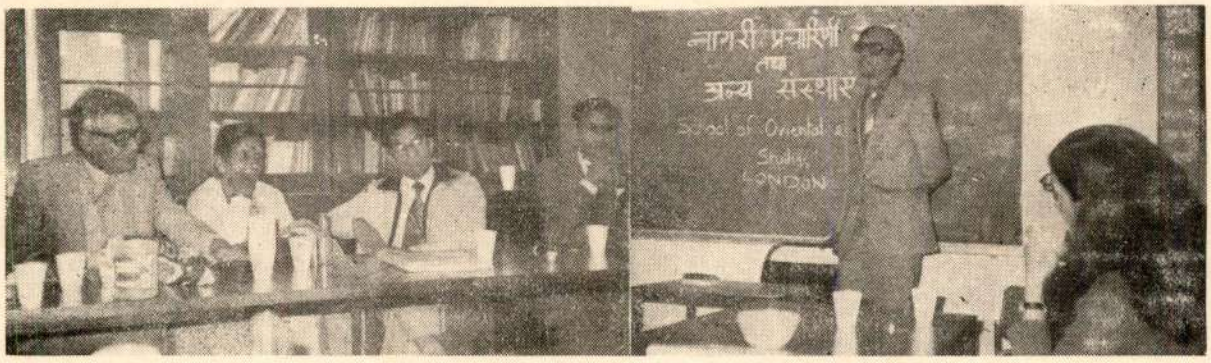

लंदन विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा नागरी प्रचारिणी सभा पर आयोजित गोष्ठी में बोलते हुए डा० श्याम सिंह शशि

नागरी प्रचारिणी सभा पर गोष्ठी

पिछले दिनों लंदन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी संस्थाओं के कार्य-कलापों पर एक गोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता बी० बी० सी० लंदन के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री कैलाश चन्द्र बुधवार ने की। मुख्य अतिथि थे भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के संयुक्त निदेशक तथा नागरी प्रचारणी सभा के प्रतिनिधि डा० श्यामसिंह शशि।

गोष्ठी के आयोजक लंदन विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष डा० आर० पी० गुप्ता ने गोष्ठी में आमंत्रित विद्वानों का परिचय कराया तथा कहा कि इस प्रकार का आयोजन एक लम्बे अन्तराल के बाद ही संभव हुआ है। उन्होंने विश्वास दिलाया कि लंदन विश्वविद्यालय सभा के कार्य को और आगे बढ़ायेगा और इंग्लैंड में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में पूर्ववत योगदान करता रहेगा। उन्होंने आगे कहा कि सम्भवत: डा० शशि के आगमन के कारण पुन: इतने विद्वानों का सहयोग मिला है।

डा० शशि ने नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों तथा उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए कहा—"सभा हिन्दी की प्राचीनतम संस्था है तथा सभी हिन्दी संस्थाओं की जननी है। संस्था ने हिन्दी विश्वकोश के अतिरिक्त अनेक दुर्लभ-ग्रंथों का प्रकाशन कर हिन्दी की महती सेवा की है।'

सभा की विभिन्न शाखाओं तथा संबद्ध संस्थाओं की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति तथा विश्वहिन्दी सम्मेलन आदि सभा की प्रेरणा अथवा प्रयासों के प्रतिफल हैं। हिन्दी को सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित करने के लिए सभा प्रयत्नशील रही है। आज यह संस्था हिन्दी के प्रख्यात विद्वान व सुधाकर पांडे के नेतृत्व में एक ओर गोष्ठियों, सेमिनारों तथा साहित्यकारों की जयन्तियों के [illegible] से जनजागरण में लगी है तो दूसरी ओर सरकारी तथा [illegible] सरकारी हिन्दी संस्थाओं के कार्य में भी सहयोग देती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबूराम विष्णु पराड़कर तथा मैथिलीशरण गुप्त की जयन्ती पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि विश्व के सभी हिन्दी विभाग इस कार्य में हाथ बटाएं तो अच्छा होगा।

उल्लेखनीय है कि डा० शशि ने हिन्दी तथा अंग्रेजी में 50 से ऊपर पुस्तकें लिखी हैं। वे भारत सरकार की ओर से उच्च प्रशासनिक अध्ययन के लिए इंग्लैंड गए थे। उन्होंने अपने अवकाश के क्षणों में एक ओर गोष्ठियों का आयोजन किया, तो दूसरी ओर रोमा लोगों के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए युगोस्लाविया, ग्रीस तथा बल्गेरिया आदि देशों की यात्रा भी की। इस यात्रा में उन्होंने अनेक साहित्यकारों से भी भेंट की। गत वर्ष उन्होंने चौदह देशों की लेखकीय यात्रा की थी। डा० शशि का कहना है कि हिन्दी संस्थाओं, विशेष रूप से विश्व हिन्दी सम्मेलन को, कई करोड़ की संस्था वाले रोमा समाज में भी हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना चाहिए। वे आज भी अपने घर में जिस रोमनी भाषा को बोलते हैं उसमें आंखें, नाक, कान, बाल आदि शब्द ज्यों के त्यों मिलते हैं। आगामी विश्व हिन्दी सम्मेलन में यह भी विचारणीय विषय होना चाहिए।

(शेष पृष्ठ 46 पर)

संपादकीय

चूक हिन्दी भाषियों से हुई है

प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के बाद अब तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन। पहले दो सम्मेलनों में भारत के भीतर और बाहर अनेक देशों में फैले हिन्दी-भाषियों के बीच भावात्मक स्तर पर एकता स्थापित करने तथा हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने के विषय में बड़े जोर-शोर से चर्चा हुई। स्वाभाविक है, तृतीय सम्मेलन में भी यह प्रश्न दुगने उत्साह से उठाया जायेगा और इस पर जम कर विचार होगा।

चीनी और अंग्रेजी के बाद हिन्दी, संभवतः विश्व में बोली, समझी जाने वाली तीसरी बड़ी भाषा है, और भारत जैसे विशाल देश की राजभाषा है। अतएव यह न्यायसंगत भी है कि इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त हो। यही एक भाषा है जो अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में भारतवासियों तथा मारिशस, फीजी, दक्षिण अफ्रीका आदि में बसे भारतीय मूल के निवासियों की आशा-आकांक्षाओं का सही रूप में प्रतिनिधित्व कर सकती है। यह बताने की जरूरत नहीं कि सैकड़ों वर्ष पहले भारत से जाकर इन देशों में बसे भारतीय मूल के लोगों ने हिन्दी से अपना संबन्ध कायम रखा है तथा अब भी अपने परिवारों तथा अपने समाज में हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। अतएव, संयुक्त राष्ट्र संघ में इसे प्रतिष्ठित कराने के लिए जो भी प्रयत्न किये जायें, वे निश्चय ही अभिनंदनीय होंगे।

यह ठीक है कि यह समय की मांग है, और इस प्रश्न को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। लेकिन, साथ-साथ यह भी जरूरी है कि इस देश के जन-मन, में विशेषतः, उन क्षेत्रों में जहां आजादी के बाद के वर्षों में इसका विरोध हुआ और हो रहा है, इसका प्रसार किया जाय और मान्य बनाया जाए, जिससे यह राष्ट्र की भावात्मक एकता को सुदृढ़ करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का उचित रूप में निर्वाह कर सके। यदि हम अब तक मस्जिद में दिया जलाने के पहले घर को पूरी तरह रौशन नहीं कर सके हैं, तो अब ये काम साथ-साथ करें, बल्कि, घर को रौशन करने पर ज्यादा ध्यान दें। घर से मस्जिद तक की राह-राह रौशन नहीं होगी तो फिर मस्जिद में भी रौशनी नहीं फैल सकती।

लेकिन, आज तो स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि हिन्दी के राजभाषा बन जाने, और सही तौर पर राष्ट्रभाषा होने के बावजूद, हिन्दी जिन क्षेत्रों की मातृभाष रही है, उनमें भी इसकी स्थिति सुदृढ़ होने के बदले, इसका नामोनिशान मिटता जा रहा है। अंग्रेजी और अंग्रेजियत इस तरह लोगों पर हावी हो रही है कि कार्यालयों और सभा-सोसायटिओं में तो अलग, घरों में भी हिन्दी की उपेक्षा हो रही है। बच्चे प्रारम्भिक हिन्दी को केवल निरुत्साहित ही नहीं किया जाता, बल्कि कदम-कदम पर इसकी अवमानना की जाती हैं। अंग्रेजी और अंग्रेजियत का यह विष उन परिवारों में भी प्रवेश कर गया है जो जाहिरा तौर पर हिन्दी के समर्थक हैं, सभा-सोसायटियों में हिन्दी की वकालत करते हैं। इस स्थिति से उबरने के कोई आसार दिखाई नहीं देते। कोई ऐसी राह निकालना जरूरी है जिससे हमें भारत के हिन्दी भाषी, मारिशस और फीजी जैसे देशों के भारतीय मूल के लोगों से प्रेरणा ग्रहण कर सकें, जिन्होंने भारत से इतनी दूर रह कर भी हिन्दी और भारतीय संस्कृति को अपने सीने से चिपका कर रखा है।

जहां तक दक्षिण की बात है, हिन्दी की स्थिति वास्तव में उतनी बुरी नहीं है जितनी बताई जाती है। कहा जाता है, तमिलनाडु में हिन्दी का विरोध सबसे अधिक है, लेकिन वह विरोध सिर्फ राजनितिक स्तर पर ही है। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा जैसी संस्थाएं, जिन्होंने स्वातन्त्र-संग्राम के दिनों से ही हिन्दी प्रचार को एक राष्ट्रीय कार्य समझकर दक्षिण में अत्यंत निष्ठापूर्वक इसका प्रचार किया है, आज भी लगन से काम कर रही हैं और उनके निर्देशन में अधिकाधिक दक्षिणवासी हिन्दी सीख रहे हैं...आंध्र कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल सभी राज्यों में राजनीतिक स्तर पर जो लोग हिन्दी का विरोध कर रहे हैं वे भी मन ही मन यह समझते हैं केवल हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो सम्पर्कभाषा की की भूमिका बखूबी निभा सकती है। वे अच्छी तरह समझ चुके हैं कि भारत सरकार में अंग्रेजी का वर्चस्व सदा नहीं बना रह सकता, और यदि उन्हें केन्द्रीय सरकार में नौकरी करनी है तो उनके लिए हिन्दी सीखना जरूरी है। हिन्दी के साहित्य का भी दक्षिण की भाषा में अनुवाद हो रहा है, हिन्दी की फिल्में तो हिन्दी को लोकप्रिय बना रही हैं।

ईमानदारी की बात तो यह है कि कोई चूक हुई है तो हिन्दी भाषियों की ओर से हुई है। भाषा की समस्या हल करने तथा भावात्मक एकता को सुदृढ़ करने के लिए देश की शिक्षा संस्थाओं में त्रिभाषा फार्मूला अपनी कमियों के बावजूद, बड़ा उपयोगी था और अब भी है। इसमें भावना यह थी कि दक्षिण के शिक्षार्थी अपनी मातृभाषा के अलावा हिन्दी और अंग्रेजी सीखें तथा उत्तर के शिक्षार्थी हिन्दी और अंग्रेजी के अलावा दक्षिण की कोई एक भाषा। जबकि दक्षिण में इस पर अमल हुआ, उत्तरी राज्यों की माध्यमिक स्तर की शिक्षा संस्थाओं में शायद ही कोई ऐसी संस्थाओं में शायद ही कोई ऐसी संस्था हो जिसने दक्षिण की किसी भी भाषा की पढ़ाई शुरू की हो। ऐसी स्थिति में, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब हम उनकी भाषाएं नहीं सीखते तो वे हमारी भाषा क्यों सीखें? इससे राजनीतिकों को अपना उल्लू सीधा करने के लिए हथकंडा

आजकल

आधुनिक साहित्म एवं संस्कृति का संवाहक मासिक

वर्ष : 38; अंक : 11; पूर्णांक : 463; मार्च : 1983
(फाल्गुन-चैत्र 1904-1905)

'आजकल' का चंदा : एक प्रनि 1 रुपया, वार्षिक 10 रुपये, द्विवार्षिक 18 रुपये तथा त्रिवार्षिक 25 रुपये मात्र.। (छात्रों तथा अध्यापकों के लिए चंदे में दस प्रनिशत की विशेष छूट। इसके लिए प्रमाणपत्र भेजना आवश्यक है) **'आजकल'** के नियमित ग्राहकों को, प्रकाशन विभाग की 5 रुपये या अधिक मूल्य की पुस्तकें खरीदने पर 20 प्रतिशत छूट दी जाती है।

विदेश में : एक प्रति : 30 सेंट या 15 पेंस; वार्षिक : 3 डालर या 1.50 पौंड; द्विवार्षिक : 5-40 डालर या 2.70 पौंड; त्रिवार्षिक : 7-50 डालर या 3.75 पौंड।

चंदे एवं विज्ञापन तथा पत्रिका न मिलने की शिकायत भेजने का पता : व्यापार व्यवस्थापक, पटियाला हाउस, नई दिल्ली। ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें।

संपादकीय पत्र-व्यवहार : संपादक 'आजकल' (हिंदी), पटियाला

संपादकीय

लेख :

3. सिन्दी के प्रारंभिक विदेशी विद्वान — जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी
9. सोवियत संघ में हिंदी अध्ययन — एस० डी० सेरेब्रिआनी
14. जर्मन जनवादी गणतंत्र में हिंदी — डा० राधाकृष्ण सहाय
20. मोरिशस की छटपटा रही हिंदी — अभिमन्यु अनत
23. फीजी में हिंदी — ब्रह्मदत्त स्नातक
24. आत्मतत्व की अनवरत खोज — डा० रणवीर रांग्रा
26. पंडित इलाचंद्र जोशी — विष्णु प्रभाकर
31. राजभाषा हिंदी का विकास और प्रयोग — राजमणि तिवारी
36. भारतीय भाषाओं का देवनागरीकरण — प्रो० रामनरेश शर्मा
38. चीन के राष्ट्रकवि ली-पो — डा० रूपचन्द पारीक
45. सार्वजनिक उपक्रमों में हिंदी — डा० शेरजंग गर्ग

बातचीत

60. आचार्य जी सुंदर रेड्डी — नरसा रेड्डी

कहानी

28. अल्बेना (बल्गारियाई कहानी) — योदार्न योव्कोफ
34. प्रतिबिम्ब — प्रेमचन्द सहजवाला
41. रेल में — अमरेन्द्र मिश्र
44. अपना-अपना रंग — नगेन्द्र वर्मा

कविताएं

16. तीन कविताएं — अतुलबीर अरोड़ा
17. सच कहना — जगत सिंह
17. नहीं — डा० सुधेश
18. शाम होते ही — डा० प्रकाश मनु
18. धूप और कांच — रामकुमार आत्रेय 'प्रभाकर'
19. फागुन, — फागुन की धूप — जहीर कुरेशी
19. गजल — मृत्युंजय मिश्र 'करूणेश''
19. घोंसला — अरूण सातले
19. नजर न आया — माधवी गोयल
47. **पुस्तक समीक्षा**

प्रतिक्रियाएं :

वातायान

सपादक	: नरेन्द्र सिन्हा
सहायक संपादक	: प्रवीण उपाध्याय
उप-संपादक	: कंवर चन्द जैन
व्यापार व्यवस्थापक	: एस०एल० जायसवाल
सहायक व्यवस्थापक	: लेखराज बतरा
सहायक निदेशक (उत्पादन)	: के० आर० कृष्णन

हिन्दी के प्रारम्भिक विदेशी विद्वान

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी

भारतवर्ष में यद्यपि अंग्रेजी शासन लगभग 200 वर्ष रहा और बहुत से अंग्रेज विद्वानों ने शासन की आवश्यकता, अपने विद्याप्रेम अथवा भारतीय जनता व उसकी प्राचीन उपलब्धियों में रुचि के कारण भारतीय भाषाओं और उसके साहित्य का अध्ययन किया, परन्तु प्रारंभ में हिंदी का अध्ययन या तो धर्मप्रचार के लिए या पर्यटन के लिए सहायक मानकर किया गया। भारत में व्यवस्थित रूप से आकर बसने वाले सबसे पुराने यूरोपियन लोग पुर्तगाली थे। और इसलिए यदि गोआ में भारत का पहला प्रेस 1557 में शुरु हुआ और जब बम्बई में 1616 में प्रेस खुला तो वह प्रेस पुर्तगालियों द्वारा ही खड़ा किया गया। इसलिए स्वाभाविक है कि जेसुइट यानी कैथोलिक पादरियों ने पहले-पहल भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया। सन् 1623 में एक पादरी पियेटो डेला वालू ने देवनागरी वर्णमाला के बारे में लिखा था : "यह एक प्राचीन वर्णमाला है जिसे विद्वान जानते हैं और जिसका ब्राह्मण प्रयोग करते हैं और जो इसे अन्य देहाती अक्षरों से भिन्न बताने के लिए नागरी कहते हैं।" आगरा में एक जैसुइट कालेज था जिसमें फादर हैनरिख रौथ नाम के एक पादरी 1653 से 1668 तक रहे। उनकी 1664 में आर्बानासिस किरचरल से मुलाकात हुई और उन्होंने नागरी अक्षर दिखाये। जब किरचरल ने 1667 में अपनी पुस्तक "सचित्र चीन" छापी तो उसमें ये अक्षर भी बताये गये थे।

एक ब्रिटिश व्यापारी टेरी भारत आया था जिसने अपनी पुस्तक "वोयेज टू दि ईस्ट इंडीज" लिखी जो 1656 में ब्रिटेन में प्रकाशित हुई, उसमें भारत की भाषा के बारे में लिखा था, "हिन्दुस्तान देश की देहाती बोली का फारसी और अरबी भाषाओं से बहुत साम्य है, परन्तु यह अधिक कर्णप्रिय है और बोलने में भी आसान है। यह प्रवाहमयी भाषा है जिसमें कुछ शब्दों में बहुत-सी बातें कही जाती हैं। ये लोग हमारी तरह ही इस भाषा को बाईं ओर से दाईं ओर लिखते और पढ़ते हैं।" सन् 1673 में फ्रायर ने "न्यू एकाउंट आफ ईस्ट इंडिया एंड परशिया" में लिखा। "दरबार की भाषा फारसी है, जो भाषा साधारण तौर पर बोली जाती है (जिसके लिए कोई उचित वर्णमाला नहीं है और जो भाषा लिखी जाती है वह 'बनियान' कहलाती है) वह फारसी और स्कोलवोनेनियन भाषाओं का मिश्रण है।"

श्री वेंकटलाल ओझा ने, जिन्होंने हिन्दी समाचारपत्रों का एक संग्रहालय हैदराबाद में स्थापित किया है, यह मत प्रकट किया है कि आगरा में एक पुराना प्रेस भी पाया गया है, जो मुगलकालीन था। परन्तु इस बात के पूरे प्रमाण है कि ईसाई पादरियों ने दक्षिण में तिनेवेली (तमिलनाडु) में 1578 में और बिपिकोटा (केरल) में प्रेस खोले जहां तमिल और मलयालम में ईसाई धर्म की पुस्तकें निकलीं। सन् 1712 में तमिलनाडु के तंजावुर जिले के त्रंकोवार नगर में डेनमार्क के पदारियों ने, जिनका एक गिरजाघर था, एक प्रेस खोला। इसके तमिल टाइप जर्मनी में तैयार हुए थे। जर्मन विद्वानों ने भारतीय भाषाओं में रुचि लेना शुरू कर दिया था और हेनरिख वान ड्रैकिस्टीन ने 1678 में "होर्टस इंडिकस मालाबारियस" नामक पुस्तक लिखी जो मुख्यतया तमिल के बारे में थी। सन् 1704 में पादरी फ्रांसीसस टुरोनेसिस ने भारतीय भाषाओं का एक शब्द कोश बनाया जिसका नाम था "लेग्जिकन लिंगुआ इंडुस्टानिकाये"। इसमें कुछ चुने हुए शब्दों के लिए विभिन्न भाषाओं में क्या शब्द प्रयोग किये जाते थे, यह लिखा था। दो अन्य विद्वानों—जुगसबल्ग और वेश्ची ने 1716 और 1718 में तमिल भाषा का व्याकरण भी लिखा था। पर उससे पहले जोन जोशुआ केटेलार ने एक पुस्तक लिखी, जो "ग्रामर एंड वोकुवलरी आफ लिंगुआ हिंदुस्तानिका" नाम से 1715 में प्रकाशित हुई। जोन चेम्बरलेन ने "सिलोलोग" नाम से एक ऐसा ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें भारत की विभिन्न भाषाओं में प्रार्थना दी गयी थी।

सन् 1748 में जर्मन लेखक जान फ्रेडरिक फ्रिट्स ने ऐसा ही एक संग्रह प्रकाशित किया। यह जर्मनी में छपा, लेकिन इसकी भूमिका दक्षिण भारत में ट्रंकोवार स्थित डेनिश चर्च के पादरी शुल्ट्ज़ ने लिखी थी। इसमें 172 पृष्ठ थे। इसमें नागरी, बगला, तमिल, ग्रंथम् तेलुगु, सिंहली और बर्मी भाषाओं के अक्षर थे। इवान अवेल ने 1782 में "सिम्फोना-सिम्फोना" नामक पुस्तक लिखी थी जिसमें अनेक भाषाओं— हिन्दुस्तानी, तमिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी, बालबंधु (मराठी का एक रूप) कोंकणी और बर्मा की पैगुअन भाषा के शब्द थे। इससे पूर्व कैथोलिक पादरी कासीनियों बेलिगाटी ने रोम में 1771 में एक पुस्तक प्रकाशित की जो हिंदी की आदिमुद्रित पुस्तक मानी जाती है। इसका नाम था "एल्फाबेटम ब्रह्मणिकम् सेव इन्डुस्तानम् यूनिवर्सिटाटिस कासी।" इस पुस्तक की भूमिका जुआनिस क्रिटोफरस अमाडूटस ने लिखी थी जिसमें उसने बताया था कि काशी या बनारस के पढ़े-लिखे लोगों में 'समसी कौरत' भाषा चलती है और साधारण लोग 'बखा बोली' (भाखा बोली) बोलते हैं। इस पुस्तक में नागरी तथा कैथी के अक्षर टाइप में दिए गए थे और यह बताया गया था कि अन्य भाषाएं हैं। बंगाली — नकसु, तोरतुनिया (मैथिली), नेपालीनासिस, मराठिका, पैगुआना (बर्मी या मोट), सिंहली, तेलुगिका, तामालिका। सन् 1791 में ही रोम से एक अन्य पुस्तक निकली थी, जिसका नाम था "अल्फाबेटिका इंडिनिका" यानी भारत

की वर्णमाला। लेखक का नाम नहीं था, पर पुस्तक की भूमिका पौलिनास एस० बोथलब्यू ने लिखी थी।

सन् 1773 में बापटिस्ट पादरी विलियम केरी भारत आये। उनके साथी जे० मार्शमैन ने कलकत्ते में एक प्रेस खोलने की इजाजत मांगी। पर जब वह नहीं मिली तो वे श्रीरामपुर में जो डचों के अधिकार में था, चले गए और वहां पर उन्होंने प्रैस खोला। सन् 1801 मे श्री विलकिन्सन और पंचानन कर्मकारी की मदद से बंगला में पहला टाइप बना और श्रीरामपुर से न्यूटेस्टामेंट या बाइबिल का "सुसमाचार" के नाम से प्रकाशन हुआ। इन्होंने हिंदी के टाइप भी बनाए और छह वर्षों के अन्दर भारत की विभिन्न भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। विलियम कैरी, जोशुआ मार्शमैन और डब्ल्यू० वार्ड ने भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण किया और 1816 में उनकी रिपोर्ट दी। इसमें 33 भाषाओं के नमूने दिए गए थे। इसी प्रेस से अप्रैल 1818 से अंग्रेजी और बंगला में "दिग्दर्शन" नामक पत्रिका प्रकाशित हुई। यह पुस्तक या पत्रिका हिन्दी में भी निकली और उसके तीन अंक निकले परंतु वे अंक न तो ब्रिटिश लाइब्रेरी में उपलब्ध हैं न ही भारत में कहीं पाये गये हैं। मेजर राबर्ट लीच ने जो कोर्ट विलियम कालेज में थे 1838 से लेकर 1843 तक अनेक भारतीय भाषाओं के शब्द कोश व व्याकरण बनाए जिनमें बुन्देली भी थी। बम्बई हाईकोर्ट के न्यायाधीश सर रेस्किन रेनी ने भारत की भाषाओं पर एक शोध ग्रंथ लिखा, और इसमें दस भाषाएं, हिन्दी, कश्मीरी, बंगला, उड़ीसा, गुजराती, मराठी, कोंकणी और उनकी बोलियों का विवरण था। उन्होंने पंजाबी, मुल्तानी (लहंदा), सिंधी और मारवाड़ी को हिन्दी की बोलियों में गिना और मैथली को बंगला की बोली में। दक्षिण की भाषाओं का नाम उन्होंने तमिल या तूरानी दिया। हारनैल ने 1880 में हिन्दी और अन्य गौड़ीय भाषाओं का व्याकरण तैयार किया। कैलोग ने मसूरी के एक गिरजाघर में बैठकर हिन्दी का व्याकरण बनाया। सेंमुअल केलोग की पुस्तक "ए ग्राम आफ हिन्दी लेंगवेजेज" 1876 में इलादाबाद से प्रकाशित हुई थी। विलियम कैरी ने 1812 में ही पंजाबी का व्याकरण तैयार कर दिया। रूसी लेखक डार्न ने नेवाडी और नेपाली भाषाओं पर पुस्तक निकाली। कस्ट ने 1878 में भारत की भाषाओं का एक सूचीपत्र बनाया, जिसमें 250 भाषाओं का जिक्र था।

हिन्दी भाषा विज्ञान के सिलसिले में सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। सन् 1886 में वे वियना में होने वाले प्राच्य विद्या सम्मेलन में भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में गए थे और तुलसीदास पर अपना निबन्ध पढ़ा था। उस सम्मेलन ने भारत सरकार से अनुरोध किया कि भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण किया जाए। भारत सरकार ने प्रस्ताव मान लिया और इस सर्वेक्षण का काम श्री ग्रियर्सन को ही सौंप दिया। श्री ग्रियर्सन ने इस कार्य को तीस वर्षों में पूरा किया और उसके शोध ग्यारह जिल्दों में प्रकाशित हुए। सन् 1901 में भारत में जो जनगणना हुई उसके लिए भारत की भाषाओं पर जो अध्याय लिखा गया वह श्री ग्रियर्सन ने ही लिखा था। पर ग्रियर्सन को केवल भाषा विद् मानना ही अनुचित होगा। उन्होंने तुलसीदास के महत्व को तो विश्व के समक्ष रखा ही था। उन्होंने बिहारी, जायसी आदि अनेक हिन्दी कवियों पर नोट लिखे और बिहारी भाषा पर एक ग्रन्थ लिखा। कश्मीर के बाल्टिस्तान में प्रयुक्त होने वाली दर्दीभाषा का भी उन्होंने विशेष अध्ययन किया। उनके सहयोगी श्री टर्नर ने नेपाली भाषा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। वे स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज के प्रोफेसर थे और उन्होंने तीस वर्षों के प्रयास से एक बृहद तुलनात्मक कोश लिखा जिसका नाम था-"कम्परेटिव डिक्सनरी आफ इंडो-एरियन लेंगवेजेज" सर जार्ज ग्रियर्सन ने "बिहार पेजेन्ट्स लाइफ" नामक एक पुस्तक भी लिखी, जो बिहार के जगजीवन का बहुत ही प्रमाणिक वर्णन है। सन् 1888 में उन्होंने "द मोडर्न वरनेकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" का प्रकाशन किया और 1887 में बिहारी भाषा कोश बनाने का काम हाथ में लिया। उन्होंने बिहारी को अलग भाषा माना। इस पर पंडितों से उनका विवाद भी हुआ। बिहारी से उनका तात्पर्य भोजपुरी बोली से था, जिसके बोलने वालों की संख्या तब भी ज्यादा थी और अब भी ज्यादा है और जो इस बोली को अपने साथ जहां भी गए, ले गए, जैसे मोरिशस, गयाना, त्रिनिडाड, सुरीनाम और फीजी। सर जार्ज ग्रियर्सन ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने तुलसीकृत रामायण, बिहारी सतसई, पद्मावत, और भाषा-भूषण जैसे ग्रन्थों का सम्पादन भी किया। सन् 1889 में एक दूसरे अंग्रेज विद्वान एडविन ग्रीव्ज ने गोसाई तुलसीदास चरित की पाण्डुलिपि का प्रकाशन किया। यह ग्रन्थ महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा था। ग्रन्थ बहुत बड़ा कहा जाता है, पर उसका जो भाग प्राप्त हुआ, वह ग्रीव्ज महोदय ने छपवा दिया और उसी को आधार मानकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा जो रामचरितमानस प्रकाशित हुआ उसकी भूमिका में तुलसीदासजी का जीवनचरित्र दिया गया है। जिस प्रकार सर जार्ज ग्रियर्सन ने भोजपुरी बोली पर विशेष ध्यान दिया, उसी तरह श्री एफ० एम० ग्राऊस ने "मथुरा मेमोयर्स" लिखे। यह पुस्तक भी बृज के ऐतिहासिक सांस्कृतिक और लोकसाहित्य पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

उस समय जो विद्वान हिन्दी का अध्ययन कर रहे थे उनका ध्यान हिन्दी तक सीमित नहीं था। जिस प्रकार ग्रियर्सन ने सारे देश का भाषावार सर्वेक्षण किया और यदि अवधि और भोजपुरी का अध्ययन किया, तो उन्होंने दर्दी जैसी कश्मीरी भाषा का अध्ययन करके "ए डिक्शनरी आफ कश्मीरी लेंगवेजेज" लिखी। उसी तरह बी० एच० होड्गसन ने एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था— "लेंगवेजेज, लिटरेचर एंड रिलीजन आफ बौद्धाज

आफ नेपाल एंड भोट" भोट से उनका तात्पर्य तिब्बत से था, जिसे भारतीय भाषा में भोटदेश कहते थे। उन्होंने इसी तरह हिमालय की तराई में स्थित भाषाओं का अध्ययन कर एक पुस्तक "कम्परेटिव वाकुवलैरी आफ सब-हिमालयन डायलैक्ट्स" लिखी। यदि मैक्समूलर वेदों और संस्कृत के महान ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे तो साथ ही साथ उन्होंने मुंडा भाषा का भी अध्ययन किया और उसे द्राविड़ी भाषाओं से पृथक सिद्ध किया। बीम्स ने 1863 में "आउटलाइन्स आफ इंडियन फिलोलोजी" नामक पुस्तक लिखी, तो 1872 में "कम्परेटिव ग्रामर आफ एरियन लैंगवेजेज" लिखी। हारनैल ने 1880 में पूर्वी हिन्दी और अन्य गौड़ीय भाषाओं की व्याकरण लिखी। जे० स्टीवेन्सन ने भारत की विभिन्न भाषाओं का एक तुलनात्मक शब्द-संग्रह तैयार किया।

सरविलियम जोन्स ने 1786 में एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की स्थापना की थी। उस संस्था ने अपने मुखपत्र के द्वारा और विभिन्न प्रकाशनों द्वारा न केवल संस्कृत के बारे में बल्कि भाषा, हिन्दुस्तानी, बृज आदि विभिन्न हिन्दी की बोलियों और शैलियों पर अध्ययन प्रस्तुत किया। जर्मन लेखक बाप ने 1833 में भाषा का अध्ययन लिखा और 1865 में एक तुलनात्मक व्याकरण। ऐसे अनेकों विद्वान हुए जिन्होंने इस संस्था के माध्यम से भारत की अनेक भाषाओं पर प्रकाश डाला, इनमें प्रमुख थे—ग्रिम, पाट, व्हिटनी, ग्रगमान, डेलब्रक, जेसपर्सन इत्यादि। इन विद्वानों के अध्ययन से उनके समय में या उनके समय से पहले हिन्दी भाषा तथा अन्य भाषाओं में क्या समानतांए थीं और क्या विभिन्नताए थीं, यह अच्छी तरह प्रकट होता है। उदाहरण के लिए जब जोन मार्शल ने 1672 में "नोट्स एंड आबजरवेशन्स आन ईस्ट इंडिया" लिखा, तो उसने संस्कृत के अतिरिक्त बंगला और हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सन् 1740 में ईसाई-प्रचारक पेरी पांस ने संस्कृत के शब्दकोशों से यूरोप को परिचित कराया। संस्कृत से अंग्रेजी और अंग्रेजी से संस्कृत कोश बनाने वालों में मोनियर विलियम्स का नाम प्रसिद्ध हैं और उनका कोश आज भी प्रामाणिक कोश माना जाता है। केरी मार्शमैन और वार्ड ने अपने भारतीय भाषा सर्वेक्षण में जिन 33 नामों को लिखा था, वे भाषाए थीं—संस्कृत, बंगला, हिन्दी, कश्मीरी, डोगुरी, पंजाबी या सिख, बुच (लहंदा), सिंध, कच्छ, गुजराती, कुनकुना, बीकानेर, मारावाड़, जयपुरा, उदयपुरा, हाड़ौती, मालवा, बृज, बुन्देलखंड, मरहटा, मगध, अवध (गैर-कैथी), मैथिली, नेपाल, आसाम, उड़ीसा या उत्कल, तेलंग, कर्नाटा, पुश्तो (अफगान), बलूची, खासी, और बर्मन। यह रिपोर्ट 1816 में प्रकाशित हो चुकी थी जिसका अर्थ यह है कि इसकी तैयारी में काफी समय लगा होगा। क्योंकि इस वक्त तक रेल या मोटरगाड़ी का चलन नहीं हुआ था और घोड़ा, पालकी, पैदल ही आवागमन होता था। तब तक मराठों का पतन नहीं हुआ था। पंजाब और सिंध तथा अफगानिस्तान भारत से पृथक थे और बर्मा भी अंग्रेज सरकार के अधीन नहीं हुआ था। अंग्रेजों ने बर्मा के राजा के साथ संबंध कायम करने के लिए राजदूत भेजे थे। परंतु बर्मा ने दौत्य संबंध स्वीकार नहीं किया। आसाम, मणिपुर आदि राज्य स्वतंत्र थे, परंतु इन विद्वानों ने जब भारतीय भाषाओं का जिक्र किया, तो उसमें इन सब को सम्मिलित कर लिया गया जिसका अर्थ यह था कि यद्यपि उस समय भारत राजनीतिक दृष्टि से बहुत से भागों में बंटा हुआ था, तो भी सांस्कृतिक दृष्टि से कश्मीर से लेकर कर्नाटक तक और पुश्तो और बलूची भाषी क्षेत्र से लेकर खासी व बर्मन भाषी क्षेत्रों तक एक देश समझा जाता था।

इसी प्रकार की विचारधारा लीच के शब्दकोश व व्याकरणों में प्रकट होती है, जिसकी पुष्टि बम्बई के प्रधान न्यायाधीश सर अरस्किनरेनी ने भी की। गोआ में रहने वाले बेश्ची ने 1718 में तमिल व्याकरण लिखा था और जुगोस बल्ग ने भी 1716 में भारतीय भाषाओं पर काम किया। इन्होंने व्याकरण लिखे और अपने धर्मग्रन्थों को भारतीय भाषाओं में अनुदित किया।

यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी की प्रथम पुस्तक भारत में न प्रकाशित होकर रोम में सन् 1771 में प्रकाशित हुई। हम जिक्र कर चुके हैं कि यह प्रकाशन "एल्फाबेट्स ब्राह्मणी कम सियु इन्दुस्तानम् युनिवर्सिटाज काशी" नामक पुस्तक के रूप में हुआ था। इस पुस्तक में अन्त में व्याकरण, वर्णमाला, बारहखड़ी के साथ-साथ आठ पृष्ठ में हिन्दी गद्य का भी रूप था और भाखा बोली के रूप में ऐसी खड़ी बोली बतायी गयी है जो संस्कृत प्रधान शब्दों के साथ-साथ अरबी, और फारसी शब्द भी रखती है।

भारत में भी इसी वर्ष शकुन्तला नाटक, सिंहासन बत्तीसी, बेताल पचीसी, माधवोनल कामकन्दला जैसे ग्रंथ भी छपे। सन् 1743 में कैटेलार का हिन्दुस्तानी ग्रामर भी रोम में छपा। यह मूल डच का लेटिन अनुवाद था।

भारत में जिन अंग्रेज विद्वानों ने हिन्दी साहित्य के प्रचार में योगदान दिया उसमें सर जान गिल क्राइस्ट को भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी और उर्दू दोनों के ग्रंथ लिखाने के लिए पं० लल्लूजीलाल और पं० सदल मिश्र जैसे विद्वान इकट्ठे किये और उनके द्वारा हिन्दी के ग्रथ निकाले तथा हिन्दुस्तानी प्रेस की स्थापना की। समझा यह जाता है कि हिन्दी का वर्तमान स्वरूप गिल क्राइस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से ही शुरू हुआ। उन्होंने स्वयं भी हिन्दुस्तानी ग्रामर लिखी और अपने भाषा-पंडितों द्वारा "प्रेमसागर", "शकुन्तला" नाटक, "बृजभाषा व्याकरण" 'माधव विलास" "प्रभा विलास", "राजनीति" आदि पुस्तकें लिखीं। पं० सदल मिश्र ने नासकेतोपाख्या न और रामचरितमास दो रचनाएं लिखी। इन रचनाओं में से बहुतों को गिल क्राइस्ट ने अपने "हिन्दी

(शेष पृष्ठ 37 पर)

आचार्य जो सुन्दर रेड्डी से नरसा रेड्डी की बातचीत

दक्षिण के गण्यमान्य हिंदी विद्वान एवं हिंदी प्रचारक आचार्य जी० सुंदर रेड्डी सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय अतिरिक्त विविध मंत्रालयों एवं विभागों के हिंदी के वरिष्ठ सलाहकार हैं। संप्रति आप आंध्र विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक हैं। प्रस्तुत भेंट-वार्ता में इन्होंने हिंदी भाषा के प्रति दक्षिण भारत के जन-मानस की भावनाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है और साथ ही हिंदी को सभी प्रदेशवासियों में लोकप्रिय बनाने के लिए योग्य सुझाव भी दिये है।

● **रेड्डीजी नमस्कार! आप दक्षिण के इने-गिने हिंदी विद्वानों में से एक है। दक्षिण में हिंदी प्रचार और प्रसार की दिशा में आपका योगदान काफी महत्वपूर्ण माना जाता है। साथ ही आंध्र विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की स्थापना और उसके संपूर्ण विकास में आपका बड़ा हाथ रहा है। इसलिए दक्षिण में राजभाषा हिंदी के प्रचार और प्रसार की जो गतिविधियां चल रही हैं और जो समस्याएं मौजूद हैं, आपके द्वारा मालूम कर लेना चाहता हूं। क्योंकि आप ही को इन समस्याओं का सही समाधान ढूंढ निकालने में योग्य विद्वान समझता हूं।**

मेरे प्रति आपको जो विश्वास है. उसके लिए मैं आपको धन्यवाद दे रहा हूं। दक्षिण की सभी हिंदी प्रचार संस्थाओं एवं विश्वविद्यालय से गत 40 वर्षों से मेरा निकट संबंध रहा है। इसलिए हिंदी प्रचार और प्रसार से संबंधित जो सवाल आप पूछना चाहते हैं, पूछिए, यथासंभव मैं जवाब देता जाऊंगा।

● **अच्छा, कृपाकर बताइए कि स्कूल और कालेजों में आज दक्षिण में हिंदी का क्या स्थान है?**

कई कारणों से भारत के अन्य भागों की तुलना में हिंदी की जानकारी दक्षिण के लोगों में कम है। वैसे दक्षिण भारत में हिंदी भाषा और साहित्य का अध्ययन लगभग सन् 1918 से चल रहा है। आरंभ में केवल राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हिंदी का अध्ययन और अध्यापन दक्षिण के साधारण जन-समाज में हुआ करता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दक्षिण के चारों भाषा प्रदेशों के स्कूलों में हिंदी का अध्ययन अनिवार्य बना दिया गया है। धीरे-धीरे स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर भी दक्षिण में हिंदी भाषा और साहित्य का अध्ययन और अध्यापन कार्य नियमित रूप से आरंभ हुआ है। इसके पीछे केन्द्रीय प्रशासन की शिक्षा—नीति और संविधान में हिंदी को दिया गया स्थान और दक्षिण में हिंदी प्रचार—क्षेत्र के कार्यकर्ताओं द्वारा तैयार की हुई पृष्ठभूमि—इन तीनों का सम्मलित योग रहा है।

● **यहां के स्कूल और कालेजों के हिंदी भाषा के स्तर को बहुत कम माना जाता हैं। अनेक कारणों में से—यहां के शिक्षित-वर्ग की उदासीन-भावना और राज्य-सरकारों की निर्लक्ष्य—भावना, उक्त समस्या के संदर्भ में कहां तक जिम्मेदार है? कृपाकर, जरा संक्षेप में ही सही व्याख्या कीजिए।**

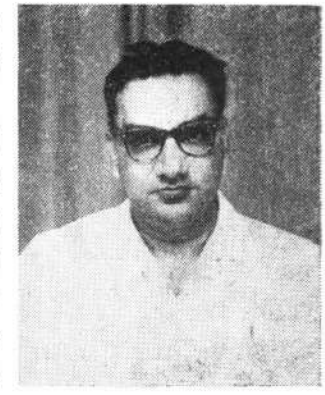

जी० सुंदर रेड्डी

जहां तक दक्षिण में हिंदी प्रचार का संबंध है, आपका यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है। इस मामले के बारे में व्यापक रूप से समझाने की आवश्यता है। फिर भी संक्षेप जवाब देने का प्रयत्न करूंगा। इस समस्या के अंतर्गत तीन प्रधान कारण स्पष्ट है। (1) त्रिभाषा-सूत्र के प्रति राज्य-सरकारों की उदासीन - दृष्टि (2) यहां के शिक्षित वर्ग के भ्रम एवं शंकाएं और (3) स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर पर हिंदी पढ़े-लिखे युवकों की रोजगार की समस्या।

अब मैं प्रथम कारण की व्याख्या करूंगा। त्रिभाषा-सूत्र का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय एकता के साथ साथ प्रशासनिक-भाषा की समस्या को सुलझाना और विभिन्न भाषावार प्रदेशों के साथ केन्द्र और हिंदी प्रदेशों के बीच में सुहृद भावना बनाए रखना आदि प्रमुख अंग हैं। इस महत्वपूर्ण त्रिभाषा-सूत्र के अनुसार दक्षिण में आंध्र प्रदेश और केरल राज्यों में ही स्कूलों में हिंदी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जा रही हैं। कर्नाटक में हाल ही में घटित प्रादेशिक-भाषा-आंदोलन के कारण अब वहां के स्कूलों में हिंदी एच्छिक भाषा के रूप में ही पढ़ाई जा रही है। मद्रास में तो बहुत समय से वहां के स्कूलों में हिंदी के लिए स्थान नहीं है। हिंदी भाषी प्रदेशों में भी संस्कृत की आड़ में त्रिभाषा-सूत्र का उल्लंघन हो चुका है। इसलिए इस संदर्भ में केवल हिंदीतर-भाषियों को ही दोषी ठहराना मैं उचित नहीं समझता हूं।

दूसरा कारण रहा यहां के शिक्षित वर्ग के भ्रम एवं शंकाएं। अब तक केन्द्र सरकार या हिंदी भाषी प्रादेशिक सरकारों ने हिंदी के प्रति हिंदीतर भाषियों के भ्रम एवं शंकाओं से निवृत्त करने का कोई ठोस एवं उत्तरदायित्वपूर्ण कदम नहीं उठा पाया है। यहां के शिक्षित वर्ग की दृष्टि में हिंदी अब भी एक पिछड़ी हुई भाषा हैं। उसकी राय में तुलसीदास कृत रामचरित मानस

के सिवा हिंदी की कोई महत्वपूर्ण साहित्य या प्राचीन परंपरा नहीं हैं। इसी भ्रम के कारण यहां के लोग हिंदी को राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में स्वीकारने में मानसिक रूप से बिलकुल तैयार नहीं है। यहां के लोग ऐसा विश्वास नहीं कर पा रहे हैं कि हिंदी इस देश में अंग्रेजी के स्थान को ग्रहण कर सकती है। इसलिए अपने बच्चों को हिंदी पढ़ाना आवश्यक नहीं समझते है। यहां के कालेजों में हिंदी पढ़ने के लिए इच्छुक छात्रों को अकसर प्रिंसिपल आदि कालेजों के अधिकारी निरुत्साहित करते हैं। लाचार होकर उन हिंदी प्रेमी छात्रों को अन्य विषय लेना पड़ता हैं। इस वजह से कालेजों में हिंदी प्राध्यापकों की नियुक्ति अनावश्यक समझी जाती है। इसलिए यहां के शिक्षित वर्ग की मनोभावनाओं में परिवर्तन आए बिना हिंदी का प्रचार और प्रसार व्यवस्थित ढंग से संपन्न नहीं हो सकेगा।

तीसरा कारण रहा है, हिंदी में शिक्षित स्नातक एवं स्नातकोत्तर छात्रों की बेरोजगारी। हमें यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि हिंदीतर भाषी हिंदी-छात्रों को विशेष सुविधाएं दिए बिना यहां हिंदी को प्रचार और प्रसार में कोई विशेष प्रगति सभव नहीं है। साथ ही साथ अनिवार्य रूप से हिंदी भाषा से संबंधित अनुवादक, प्रशासनिक अधिकारी आदि नौकरियों में हिंदीतरभाषी हिंदी स्नातक एवं स्नातकोत्तर उपाधि—धारियों को कुछ प्रतिशत नौकरियां निर्धारित कर देना चाहिए। तब कहीं हिंदीतर भाषी हिंदी पढ़ने में रुचि ले सकेंगे।

- **आपके अनुभव पूर्ण विचारों के प्रति सभी हिन्दी—प्रेमियों को ध्यान देने की आवश्यकता तो है। कुछ हिन्दी विद्वानों का मत है कि राष्ट्र का भाषावार राज्यों के रूप में बंटवारा करने के कारण से हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी प्रचार में काफी ढीलापन आ गया है। सभी राज्य-सरकारें अपनी-अपनी भाषा की उन्नति के लिए काफी प्रयत्न कर रही हैं और हिन्दी को तीसरी भाषा के रूप में भी स्थान नहीं दिया जा रहा है। इससे हिन्दी के प्रचार में अवरोध पैदा हो रहा है न ?**

प्रशासनिक सौलभ्य एवं तद्देशीय भाषा-साहित्य और संस्कृति के विकास के लिए भाषावार-राज्यों का विभाजन अनिवार्य है। सभी राष्ट्र एवं राष्ट्रभाषा प्रेमी इस तथ्य से जागरूक रहें कि प्रादेशिक-भाषा एवं साहित्यों की उन्नति हिंदी भाषा की लोकप्रियता को घटा नहीं सकती, प्रत्युत् प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति ही राष्ट्रभाषा का मूल आधार है। आज भारत के अनेक प्रदेशों में वहां की प्रादेशिक—भाषाएं प्रशासनिक—भाषाओं के रूप में और उच्च—शिक्षा के माध्यम के रूप में काफी विकसित हो रही है। तात्पर्य यही है कि धीरे-धीरे प्रादेशिक—भाषाएं अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर रही हैं। फलस्वरूप, अंग्रेजी की लोकप्रियता और उसकी आवश्यकता दिन-प्रति-दिन घटती जा रही है। हिंदीतर प्रदेशों में हिंदी को शिक्षा के विविध स्तरों पर जो स्थान पहले प्राप्त था, आज कम महत्व दिया जा रहा है। मेरी दृष्टि में यह संधि-काल है। कुछ ही दिनों में प्रादेशिक सरकारों एवं केंद्र सरकार की अदूर-दर्शिता के कारण केंद्र और राज्य, राज्य और राज्यों के बीच की संपर्क-भाषा की समस्या तीव्र रूप धारण करेगी ही। भविष्य ही इसका सही समाधान दे सकेगा।

- **आपके वक्तव्य के अनुसार निकट भविष्य में भारत की संपर्क-भाषा की समस्या जटिल बनेगी। तब इस 'सन्धि काल' में हिंदीतर प्रदेशों में हिन्दी की लोकप्रियता कैसे बढ़े ? इसके लिए आवश्यक उपाय आपके मतानुसार क्या-क्या हो सकते हैं ?**

सबसे पहले हिंदी भाषी लोगों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दी किसी एक भू-भाग की भाषा नहीं है, वह सार्वदेशिक है। वास्तव में हिन्दी साहित्य और भाषा की उन्नति किसी एक प्रांत से संपन्न नहीं हुई है. वह सभी प्रदेशों के महानुभावों एवं विभूतियों के अनवरत कृष्टि से ही आज उसका स्थान राष्ट्रभाषा या राजभाषा के रूप में कायम हुआ है। आज भी स्थिति ऐसी है कि हिन्दी को संपूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकारने के लिए और उसके स्तर को सार्वदेशिक दर्जा दिलाने के लिए सभी भारतवासियों के सहयोग की आवश्यकता है, इसके अभाव में वह भाषा एकांगी रह जाएगी।

मेरे मतानुसार व्यावहारिक रूप से हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी की लोकप्रियता को बढ़ाने में तीन मुख्य उपाय बताए जा सकते हैं : 1) साहित्यिक आदान-प्रदान 2) हिन्दीतर भाषी हिन्दी उपाधि-धारी युवकों एवं विद्वानों को हिन्दी प्रचार में योग्य स्थान देना और हिन्दी से संबंधित नौकरियों में अनिवार्य रूप से उचित प्रतिशत आरक्षित करना और 3)शिक्षा-संस्थाओं में हिन्दी के साथ-साथ भारतीय भाषा-साहित्यों के अध्ययन एवं अध्यापन के लिए उचित सुविधा एवं प्रोत्साहन प्रदान करना आदि हैं।

प्रथम उपाय के अनुसार आज 'साहित्यिक आदान-प्रदान' का कार्यक्रम हिन्दी के माध्यम से चल रहा है। इस कार्यक्रम के द्वारा राजभाषा हिन्दी को समृद्ध बनाने के साथ-साथ सभी भारतीय भाषाओं के उच्च कोटि साहित्य एवं सांस्कृतिक निधियों को हिन्दी के माध्यम से आत्मसात कर लेने की सुविधा भी मिल जाती है। इस दिशा में केंद्र सरकार और हिन्दी प्रदेशों की सरकारें भी प्रोत्साहन प्रदान कर रही हैं। लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता हैं, यह सारा कार्यक्रम केवल हिन्दीतर भाषियों के द्वारा ही संपन्न हो रहा है। हिन्दी भाषी विद्वान अन्य भारतीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी को समृद्ध बनाने और उसे सार्वदेशिक स्तर दिलाने में काफी पिछड़ गये हैं।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार हिन्दी को समृद्ध बनाने में केंद्र सरकार तथा हिन्दी प्रदेशों की सरकारें दिलचस्पी ले रही हैं, उसी प्रकार हिन्दी के महत्वपूर्ण साहित्यिक ग्रंथों को

भारत की सभी प्रादेशिक भाषाओं के समुचित ढंग से अनुदित करने में विशेष प्रोत्साहन प्रदान करने की आवश्यकता है। तभी हिन्दीतर भाषी हिन्दी भाषा एवं उसकी साहित्यिक संपन्नता से परिचित एवं प्रभावित हो सकेंगे और धीरे-धीरे हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकार कर सकेंगे।

दूसरा उपाय है, हिन्दी में शिक्षित हिन्दीतर-भाषी युवकों की बेरोजगारी समस्या को हल करना। इसके संबंध में पहले ही कहा जा चुका है। अब पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

अब तीसरे उपाय के बारे में कहना है, खेद की बात यह है कि भारत के विश्वविद्यालयों एवं शिक्षा-संस्थाओं में विदेशी भाषाएं सीखने के लिए (जैसे कि रूसी, जर्मन, फ्रेन्च आदि) जो सुविधाएं उपलब्ध है, भारतीय भाषाएं सीखने के लिए यहां पर न कोई सुविधा है और न प्रोत्साहन। भारत के शिक्षाविदों दूरदर्शी नेताओं और बुद्धिजीवियों के इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इससे भारत की भावात्मक एकता, भिन्न-भिन्न भाषाओं एवं संस्कृतियों में आपस में सुहृद-भावना बढ़ सकेगी, और इसी आधार पर राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी उन्नति होगी।

● **आपका यह कहना सही है कि भारतीय भाषाओं को सीखने और उन्हें समृद्ध बनाने से ही भारत की भावात्मक एकता बढ़ सकती है। सरकारी और गैर सरकारी शिक्षा-संस्थाओं को भी इस तरफ ध्यान देने की आवश्यकता है। हां रेड्डी जी, हम फिर हिन्दी के प्रचार और प्रसार के बारे में बातें करेंगे आजकल केन्द्र और हिन्दी प्रदेशों की सरकारों के अनुदान से हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी प्रचारार्थ कुछ संस्थाओं द्वारा अनेक परियोजनाएं चालू है। उन संस्थाओं के प्रयास कहां तक सफल हुए हैं?**

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने संविधान में हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता दी। अतः हिंदीतर प्रान्तों में हिंदी के प्रचार एवं प्रसार के लिए विविध योजनाएं आरंभ की गई। केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी शिक्षण योजना आदि की स्थापना हुई। उक्त संस्थाओं की स्थापना के मुख्य उद्देश्य क्रमशः भारत के हिंदीतर प्रान्तों में हिंदी का प्रचार एवं प्रसार, हिंदीतर—भाषी प्रान्तों के हिंदी अध्यापकों का प्रशिक्षण तथा हिंदीतर प्रान्तों के केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों को हिंदी सिखाना आदि रहे हैं। केन्द्र सरकार के अलावा उत्तर प्रदेश सरकार और बिहार राज्य—सरकार भी हिंदीतर प्रान्तों में हिंदी की व्याप्ति के लिए हिंदीतर भाषी हिन्दी लेखकों एवं अनुवादकों को प्रोत्साहन दे रही है।

केंद्रीय हिन्दी निदेशालय की स्थापना खासकर हिन्दीतर प्रदेशों में हिंदी प्रचार और प्रसार को बढ़ावा देने के लिए की गई है। इसी उद्देश्य से हिन्दीतर भाषी और हिन्दी के अनुभवी विद्वान आचार्य चंद्रहासन् को सर्वप्रथम उस संस्था के निदेशक पद पर बिठाकर उक्त आशय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया गया। शुरू-शुरू में इस दिशा में अच्छा काम भी संपन्न हुआ। किन्तु कालांतर में निदेशालय के कार्य-कलापों का काफी विस्तार तो हुआ, लेकिन निदेशालय के कार्य-कलापों में हिन्दी भाषियों के प्रभाव के कारण वह एकमात्र हिन्दी भाषियों की ही संस्था लगती है, इसका मुख्य कारण संभवतः निदेशालय का केन्द्र स्थान हिन्दीतर प्रदेशों को छोड़कर दिल्ली में स्थापित करना ही है। आज हिन्दी के नाम पर और वह भी राजभाषा के नाम पर अनेक संस्थाएं खोलकर हिन्दी भाषियों के प्रभाव को बढ़ावा दिया जा रहा है।

यह सर्वविदित सत्य है कि केंद्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा और एन्० सी० ई० आर० टी० आदि अन्य संस्थाओं द्वारा हिन्दी में लेखक कार्य को प्रोत्साहन करने के नाम पर लाखों रुपये खर्च कर ऐसी पुस्तकें लिखी या खरीदी जा रही हैं, जो हिन्दी व हिन्दीतर भाषियों के लिए निरुपयोगी हैं। जो पुस्तकें हिन्दीतर प्रदेशों के कालेज एवं विश्वविद्यालयों को भेंट की जाती हैं, उनका चयन करते समय निदेशालय को यह ध्यान में रख लेना चाहिए कि उन से हिन्दीतर भाषी क्षेत्रों को पाठ-शालाओं, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों की आवश्यकताएं पूरी हों और साथ ही हिन्दीतर भाषी उन रचनाओं से प्रभावित हो सकें।

पारिभाषिक शब्दावली की तैयारी में निश्चित नीति न अपनाने के कारण जो भी अब तक पारिभाषिक शब्द-कोश तैयार किए गए हैं, वे न तो प्रामाणिक हैं और न ही व्यावहारिक। संविधान के अनुसार सभी भारतीय भाषाविदों एवं विद्वानों के विचार-विनिमय से सार्वदेशिकता को ध्यान में रखते हुए पारिभाषिक-शब्दकोशों का निर्माण किया जाने चाहिए था। इस तरफ बने शब्दकोशों का सभी भारतवासी अनुसरण भी कर सकते थे। साथ ही करोड़ों रुपयों की राष्ट्रीय—संपत्ति को भी बचाया जा सकता था।

आज हिन्दी जगत् में ऐसे अनेक चमत्कार देखने में मिलते है कि अनेक संस्थाओं द्वारा एक ही विषय संबंधी अलग-अलग शब्दकोश तैयार किए जा रहे हैं। इससे धन और समय का अपव्यय किस हद तक हो रहा है, इसका अंदाज़ा लगा सकते हैं। जिन-जिन संस्थाओं द्वारा हिन्दी से संबंधित विविध परि-योजनाएं चलाई जा रही है और अब तक जो काम पूर हो चुका है, इसका पूरा ज्ञान किसी को नहीं है। यह नितांत आवश्यक है कि हिन्दी के नाम पर और राजभाषा के नाम पर जो कार्य हुआ है और जो हो रहा है, उसका पूरा विवरण किसी एक संस्था के द्वारा प्राप्त कर लेने की सुविधा होनी चाहिए। इससे अनेक लाभ हैं, कार्यकलापों के दुहराव से मुक्ति, आवश्यक कार्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न आदि-आदि।

● **अंत में एक और बात आप से पूछना चाहता हूं कि 'तीसार विश्व हिंदी सम्मेलन' जो होने जा रहा है, उससे हिंदी की लोकप्रियता बढ़ने की क्या कोई संभावना है?**

(शेष पृष्ठ 43 पर)

रूस में/या रूसियों द्वारा हिंदी के अध्ययन का इतिहास जेरासिम् सं० लेबेद्फ, (1749-1817) के साथ शुरू होता है जो 1785-1797 के दौरान भारत में कलकत्ता में रहे। सर्वप्रथम बंगला थियेटर के आयोजक के रूप में बंगाल में उनका नाम बड़े सम्मान से लिया जाता है। वर्ष 1801 में उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की (लंदन में) जिसमें उन्होंने कलकत्ता में उस समय बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी का विवरण दिया था। (जेरासिम लेबेद्फ कृत ए० ग्रामर आफ द प्योर एण्ड मिक्सड ईस्ट इंडियन डायलेक्ट्स...)। यद्यपि लेबेदेफ् स्वभाव से एक विद्वान की अपेक्षा एक कलाकार, (संगीतकार) और कहें कि एक साहसिक व्यक्ति अधिक थे, तथापि उनकी यह पुस्तक हिन्दी के इतिहास में एक महत्वपूर्ण योगदान सिद्ध हुई है। इस पुस्तक को 1963 में कलकत्ते से महादेव साहा ने फिर से प्रकाशित किया है। इसकी भूमिका सुनीति कुमार चाटुंज्या ने लिखी है।

था; क्योंकि इससे टक्कर ले सके ऐसा कोई संस्कृत—रूसी शब्द कोष हमारे यहां अभी भी नहीं हैं।

लेकिन 19वीं शताब्दी में भी रूस के भारतविदों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं, विशेष रूप से हिन्दी की सर्वथा उपेक्षा नहीं की थी। उदाहरण के लिए र० लेन्त्स् (1808-1836) को लें जो रूस के सबसे पहले संस्कृत विद्वान थे। जर्मन मूल के इस विद्वान ने) जो बहु-राष्ट्रीय रूसी साम्राज्य के नागरिक थे) 1834-35 में अपने लन्दन—प्रवास के दौरान "पृथ्वी राज रासों" की एक पाण्डुलिपि की अपने हाथों से प्रतिलिपि तैयार की थी। एक अन्य प्रतिष्ठित संस्कृतज्ञ, प० य० पेत्रोफ़् (1814-75) ने 1860 के दशक में हिन्दुस्तानी व्याकरण का एक संक्षिप्त विवरण और उर्दू साहित्य की एक रूपरेखा प्रकाशित की थी। इ० प० मिनायेफ् (1849-90) पिछली शताब्दी के शायद सबसे महत्वपूर्ण भारतविद् और मुख्यत: बौद्ध साहित्य और पाली

सोवियत संघ में हिन्दी-अध्ययन

एस० डी० सेरेब्रिआनी

लेखक मास्को स्थित गोर्की इंस्टिट्यूट आफ वर्ल्ड लिटरेचर से संबद्ध हैं। उनका आग्रह है कि लेख में प्रकाशित विचार, गोर्की इंस्टिट्यूट अथवा किसी अन्य संस्था के न माने जाकर उनके निजी विचार माने जाएं।

—सम्पादक

उन्नीसवीं शताब्दी में रूसी भारतविदों का ध्यान मुख्यत: संस्कृत तथा वैदिक और बौद्ध साहित्य के अध्ययन पर केन्द्रित रहा। जिसके कारण भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य की ओर अपेक्षाकृत कम ही ध्यान दिया गया। उस समय भारत विद्या की सामान्य स्थिति जैसी थी उसे देखते ऐसा होना स्वाभाविक ही था। उन्नीसवीं शताब्दी में वैदिक भाषा, संस्कृत और पाली के केन्द्रीभूत अध्ययन ने इस देश में भारत विद्या से सम्बन्धित शोध कार्यों के लिये ठोस नींव डालने का काम किया है। हम बड़े गर्व से यह स्मरण करते हैं कि वैदिक और संस्कृत का अब तक का सबसे बड़ा शब्द कोश रूस में उसकी तत्कालीन राजधानी सेंट पीटर्सबर्ग (अब लेनिनग्राद) में प्रकाशित किया गया था। इस शब्दकोश को रूस की राजकीय विज्ञान अकादमी के निर्देश पर दो जर्मन विद्वानों, ओ० ब्योत लिंक् और र० रोत्, ने तैयार किया था और इसे "द पीटर्सबर्ग डिक्शनरी" के नाम से जाना जाता है।[2] यह एक प्रकार से रूसी विद्वानों द्वारा किया गया एक प्रकार का अंतर्राष्ट्रीयतावादी आत्म-त्याग के कार्य तरीका

भाषा के अध्येता थे। किन्तु भारत की अपनी यात्राओं के दौरान (1874-75,1880 और 1885-86) उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा सीखी और उत्तर भारत के लोक साहित्य में रुचि ली। अन्य सामग्री के अलावा वह भारत से लगभग पचास लोक कथाएं और बीस से अधिक आख्यान संकलित करके ले गए थे जो पहाड़ी बोली में थे और जिन्हें उन्होंने अल्मोड़ा और आस-पास के क्षेत्र से स्वयं सुनकर लिखा था। इस संकलित सामग्री का रूसी भाषा में अनुवाद (इन्डिया टेल्स ऐण्ड लीजेन्ड्स कलेक्टेड इन कुमाऊं इन 1875") 1876 में प्रकाशित हुआ और 1966 में फिर से प्रकाशित किया गया। तथापि मूल पहाड़ी सामग्री अभी भी मिनायेफ़ के अभिलेखागार में अप्रकाशित ही पड़ी है। कहा जाता कि इस अभिलेखागार में "पुरानी हिन्दी" की उर्दू पांडुलिपियां भी मोजूद हैं।

मिनोयेफ़ के दो शिष्यों को इस शताब्दी के सबसे बड़े रूसी भारतविद् होने का यश प्राप्त है जिनके जोड़ का विद्वान अभी तक कोई नहीं हुआ। ये हैं स० प० ओल्देनबुर्ग (1863-1934)

1. देखिए जो० एन० रोरिक, इण्डालोजीइन रशा।—"जर्नल आफ द ग्रेटर इंडिया सोसाइटी', खण्ड 12, 1945, एन 2, पृ० 69—98। यही लेखदेखिए —के० नाग, ग्रेटर इंडिया, बम्बई, 1960, पृ० 347—373।
2. इसका प्रथम संस्करण 7 खण्डों में 1855—1845 में छपा था। द्वितीय परिवर्द्धितकिन्तु सरलीकृत संस्करण सात खण्डों में ही 1879—1889 में छपा था।

और प० ई० शेर्बात्स्किय् (1866-1942)। दोनों के अध्ययन का केन्द्र बौद्ध साहित्य था, किन्तु उन्होंने भारत विद्या और प्राच्य साहित्य की प्रत्येक उस शाखा पर अपनी गहरी छाया छोड़ी है जिसका अध्ययन सोवियत संघ में किया जा रहा है। ओल्देन बुर्ग ने प्राचीन और आधुनिक भाषाओं में भारतीय विवरणात्मक साहित्य—लिखित और श्रुत, दोनों का गहरा अध्ययन—मनन किया। उन्होंने भारतीय तथा अन्य लोक साहित्यों के अध्ययन के लिए कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, और उत्तर भारत के लोक-साहित्य के अध्ययन की दशा में अनेक विशिष्ठ योग-दान किए हैं। शेर्बात्स्किय ने बौद्ध-दर्शन पर जो काम किया है उसके लिए आज उनकी ख्याति सारे विश्व में है। यह बात बहुत कम ही लोगों को ज्ञात है कि शेर्बात्स्किय् और उनके शिष्यों ने अनेक वर्षों तक बहुत से ऐसे लोगों को संस्कृत और भारतीय दर्शन की शिक्षा दी थी जिन्होंने बाद में हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में अध्यापन और शोध कार्य किया।

अ० प० बरान्निकोफ (1890-1952) का नाम भारत में अत्यन्त सुपरिचित नाम है। वह पहले रूसी विद्वान हैं जिन्होंने अपना ध्यान लगभग अन्नय रूप से आधुनिक भारतीय भाषाओं विशेष रूप से हिंदी और उर्दू के अध्ययन पर लगाया। तीस वर्षों तक (1922-1952) उन्होंने लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं का अध्यापन कार्य किया, और 1934 में उन्होंने "हिन्दुस्तानी (उर्दू और हिंदी)" शीर्षक एक ग्रंथ का का प्रकाशन किया जिसमें विद्यार्थियों के लिए व्याकरण और पाठ्य-सामग्री, दोनों का समावेश है। इस पुस्तक के व्याकरण खण्ड को "हिन्दुस्तानी (हिंदी और उर्दू)" शीर्षक से 1956 में पुन: प्रकाशित किया गया। अपने पुत्र श्री प० अ० बरान्निकोफ के साथ वह इस खण्ड के सह लेखक है। श्री प० अ० बरान्निकोफ, स्वयं हिंदी के एक प्रतिष्ठित विद्वान हैं। पिता, श्री अ०प० बरान्निकोफ ने हिंदी भाषा और साहित्य पर अनेक महत्वपूर्ण प्रबन्ध लिखे हैं। उनके हिंदी अध्ययन की चर्चा आगे के लिए छोड़ते हुए आइए हम इस देश में हिंदी भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में हुई और प्रगति का लेखा-जोखा करें

अ० प० बरान्निकोफ के शिष्यों और उत्तराधिकारियों में सबसे पहले हम व० म० बेस्कोवनिय् (1908—1978) का उल्लेख करेंगे जो एक अत्यन्त प्रतिष्ठित कोषकार हैं। उन्होंने हिन्दी—रूसी भाषाओं के सबसे बड़े कोष का संकलन और सम्पादन किया है। इसके पहले संस्करण (1953) में लगभग 35,000 शब्द थे; दूसरे संस्करण (1959) में लगभग 40,000 शब्द थे; और तीसरे संस्करण (1972) के दो खण्डों में, जिसे उन्होंने अन्य विद्वानों की सहायता से तैयार किया, लगभग 75,000 शब्द हैं। व० म० बेस्कोवनिय् ने अन्य विद्वानों के साथ मिलकर सबसे पहला वृहत उर्दू रूसी कोष (1951) तैयार किया और वह प्रथम वृहत रूसी-हिन्दी कोष (1947) के सम्पादक थे।

एक अन्य विशिष्ट कोषकार हैं। श्री अ० प० वर्ख्दारोफ् (जन्म 1927)। उपर्युक्त हिन्दी – रूसी शब्दकोष की रचना में योगदान करने के अलावा, उन्होंने "वर्ड फार्मेशन इन हिन्दी" (हिन्दी में शब्द रचना) नामक एक पुस्तक (1963) और अनेक लेखों की रचना भी की है। हिन्दी व्याकरण के एक प्रमुख विशेषज्ञ हैं श्री व० प० लियेरोफ्स्किय् (जन्म 1927)। उन्होंने जिन पुस्तकों की रचना की है वे हैं: "द कैटगरी आफ मूड इन माडर्न लिटरेरी हिन्दी" (1964), "कम्पाउंड सेंटेंसेस इन हिन्दी" (1972) और "सब्सटेंटिवल पार्ट्स आफ स्पीच आफ द हिन्दी लेंग्वेज" (1978)। श्री व० अ० चेर्निषाफ् (जन्म: 1927) भी हिन्दी व्याकरण के विद्वान हैं (द सिंटेक्स आफ द सिम्पिल सेंटेंस इन हिंदी", (1965), किन्तु अब वह हिन्दी अध्ययन के अन्य पक्षों पर ज्यादा ध्यान दे रहे हैं। यहां ताशकन्द के एक विद्वान श्री अ० न० शमोतोफ की एक पुस्तक, "द क्लासिकल दक्खिनी (17 वीं शताब्दी की दक्षिण की हिन्दुस्तानी)" (1974), का उल्लेख करना जरूरी है जिसमें दक्खिनी के मुख्य ग्रंथों का भाषा मूलक विश्लेषण और दक्खिनी साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

अभी तक जिन विद्वानों का उल्लेख हुआ है उन्होंने अपना ध्यान मुख्यत: हिन्दी पर लगाया है। अन्य विद्वान हैं जो हिन्दी का अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ, कहें कि एक व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में करते हैं। श्री म० अ० जोग्रफ (जन्म: 1928) हमारे देश के एक प्रमुख भाषा-विज्ञानी हैं, और इस क्षेत्र में अब तक उनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति है; "द मार्फोलाजिकल स्ट्रेक्चर आफ द न्यू इंडो-आर्यन लैंग्वेजेज" (1976); किन्तु साथ ही उन्होंने हिन्दी अध्ययन के विशिष्ट क्षेत्र में भी कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उदाहरणार्थ "ए डिस्क्रिप्शन आफ हिन्दी एण्ड पंजाबी मैनस्क्रिप्टस द इंस्टीट्यूट आफ द ओरिएंटल स्टडीज" (1960)। उन्होंने "हिन्दुस्तानी आन द बार्डर लाइन आफ द एट्टीथ ऐण्ड नाइनटीथ सेंचुरीज" (1961) नामक पुस्तक और अनेक महत्वपूर्ण लेखादि भी लिखे हैं। उन्होंने हिन्दी बीसवीं शताब्दी के लेखकों और अनेक लोक-कथाओं का और उर्दू से भी (मुख्य हैं मीर अमान रचित "बाग-ओ-बहार" और मिर्जा हादी रूसवा रचित "उमराव जान अदा") अनेक कृतियों का अनुवाद किया है। श्रीमती त० य० कतेनिना मराठी की विशेषज्ञ हैं। आप लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाएं पढ़ाती हैं, और इंस्टीट्यूट आफ ओरिएंटल स्टडीज द्वारा "द लैंग्वेजेज आफ एशिया ऐण्ड अफ्रीका" शीर्षक से प्रकाशित हो रही पुस्तक माला के लिए "द हिन्दी लैंग्वेज" (1960) नामक पुस्तक प्रकाशित की हैं। लेनिनग्राद के ही एक अन्य विद्वान थे स० ग० सदिन (1929-1973) जो तमिल तथा अन्य द्रविड़ भाषाओं के विशेषज्ञ थे, किन्तु इन्होंने हिन्दी के स्वर-विज्ञान में उल्लेखनीय शोध कार्य किया। इसी प्रकार श्रीमती त० य० पर येलिजा-

रेंकोवा वैदिक, संस्कृत और पाली की विशेषज्ञ हैं। (अन्य कार्य के अलावा आप ने ऋग्वेद और अथर्वद के चुने हुए अंशों का अनुवाद और वैदिक भाषा का व्याकरण प्रकाशित किया है और इस समय सम्पूर्ण ऋग्वेद का रूसी भाषा में अनुवाद करने में संलग्न हैं)। आपने हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का संरचनात्मक विशेषज्ञ स्वानिकी की दृष्टि से अध्ययन करने की दिशा में पहल की है। (देखिए उनकी पुस्तक "स्टडीज इन डायाक्रानिक फोनोलाजी आफ द इंण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज"—1974)। उनके शिष्य श्री ब० अ० अखायिन (जन्म: 1942) इसी दिशा में शोधकार्य कर रहे हैं। इस समय वह मास्को विश्व-विद्यालय में भारयीय भाषाओं का अध्यापन कर रहे हैं, और अपने व्याख्यानों के आधार पर उन्होंने दो पुस्तकें तैयार की हैं; "ऐन इंट्रोडक्शन टु द हिस्टरी आफ हिन्दी लेंग्वेज" (1978) और "थ्योरेटिकल प्राब्लेम्स आफ हिन्दी ऐण्ड उर्दू ग्रामर" (प्रकाश्य)।

इस समय सोवियत संघ के चार नगरों में हिंदी पढ़ाई जाती है। मास्को और लेनिनग्राद में जो आज भी हिंदी शिक्षा के मुख्य केन्द्र हैं। ताशकन्द में जो उजबेकिस्तान की राजधानी है, और दुशाम्बे में, जो ताजिकिस्तान की राजधानी है। हिंदी का अध्यापन कार्य करने वालों में कुछ प्रमुख नाम हैं। श्री ज० म० दीमशित्स् (जन्म: 1921), श्री अ० त० अक्सयोनोफ (जन्म: 1923), श्री ओ० ग० उल्त्सीफेरोफ (जन्म: 1932), और श्री न० इ० सोन्त्सेवा)। ये विद्वान और इनकी रचनाएं, मैं समझता हूं, भारत के लिए भलीभांति सुपरिचित हैं और इनका परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। एक अन्य जाना-माना नाम है य० प० चेलिशेफ् (जन्म: 1921) का, जो अनेक कृतियों के रचयिता हैं और अनेक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेते रहे हैं। पहले आप हिंदी अध्यापनों का कार्य भी करते थे, किंतु बाद में आपने साहित्यक अध्ययन का क्षेत्र अपना लिया, और इस समय आप एशियाई और अफ्रीकी साहित्य के क्षेत्र में शोध कार्य का संचालन का दायित्व निभा रहे हैं।

अब आइए हम साहित्य की ओर अर्थात सोवियत संघ में हिंदी के अध्ययन की चर्चा करें। इस संबध में चर्चा करते हुए भी हम सबसे पहले श्री अ० प० बरान्निकोफ का नाम स्मरण आता है। 1937 में लेनिनग्राद में आपने लल्लू जी लाल रचित "प्रेम सागर" का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया। जैसा कि पुस्तक की विस्तृत भूमिका में श्री अ० प० बरान्निकोफ ने लिखा है, "यह हिंदी से किया गया एक महान कलाकृति का सर्वप्रथम अनुवाद था,...जिसे सीधे मूल पर से अनुवाद किया गया था।" भूमिका में हिंदी साहित्य का एक संक्षिप्त परिचय दिया गया था। और यह भी संभवत: रूसी भाषा में अपने ढंग का पहला काम था। "लीजेण्ड्स अबाउट कृष्ण" (कृष्ण संबंधी आख्यान) शीर्षक से प्रस्तावित पुस्तक माला के प्रथम खण्ड के रूप में उक्त पुस्तक की रचना की गई थी, किंतु दुर्भाग्य से इसके बाद कोई और खण्ड अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसके पश्चात् अ० प० बरान्निकोफ ने विष्णु के एक अन्य अवतार श्री राम-चन्द्र जी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। द्वितीय महायुद्ध के दौरान, सुरक्षा की दृष्टि से कजाकिस्तान आने के बाद श्री बरान्निकोफ ने तुलसीदास कृत "रामचरित मानस" के अनु-वाद का काम किया। संपूर्ण मानस का अनुवाद एक लम्बी भूमिका और विस्तृत टिप्पणियों के साथ 1948 में प्रकाशित हुआ। यह कार्य प्रेम-प्रेरित कार्य था, हम कह सकते हैं कि राम-भक्ति और हिंदी --भक्ति का कार्य था। इस ग्रन्थ की सूक्ष्म और पांडित्यपूर्ण भूमिका और टिप्पणियां आज भी हमारे लिए प्राचीन हिंदी साहित्य, बल्कि समग्र पारम्परिक भारतीय संस्कृत को समझने में हमारी मदद करती है। लेकिन खेद की बात है

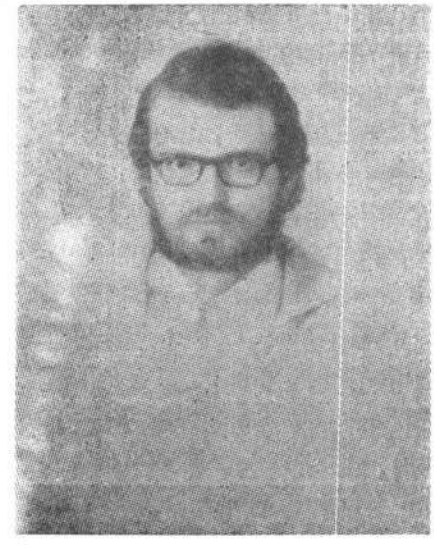

एस० डी० सेरेब्रिआनी

कि यह उद्भट विद्वान कवि बिल्कुल नहीं था, और यद्यपि उन्होंने तुलसीदास के महान काव्य की छन्द रचना को रूसी अनुवाद में ज्यों का त्यों उतारने की पूरी कोशिश की (या शायद ज्यों का त्यों उतारने की कोशिश की, इसी लिए), रूसी कविता की दृष्टि से देखने पर उनका यह अनुवाद बिल्कुल विफल कुकविता है, जिसे पढ़ना सर्वथा असम्भव है। (इसके बाद राम चरित मानस के कुछ अंशों को रूसी छन्दों में रूपान्तरित करने के प्रयत्न अन्य लोगों ने भी किए हैं। लेकिन ये भी सफल नहीं रहे। यहां यह उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि अ० प० बरान्निकोफ ने जीवन के अन्त में जो कार्य किए उनमें से एक था अपने शिष्यों और सहयोगियों द्वारा किए गए "आदि पर्व" के पूर्ण रूसी अनुवाद का सम्पादन और उसकी टीका (गद्य में)। यह रचना 1950 में प्रकाशित हुई।

तीस और चालीस के दशक में अ० प० बरान्निकोफ ने जो दो अनुवाद कार्य किये, मात्र इन्हें ही इन दशकों की उल्लेखनीय

उपलब्धि कहा जा सकता है। हां, पचास के दशक के मध्य से जब से भारत और सोवियत संघ के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित हुए, हमारे देश में हिंदी से किए गये अनुवादों की बाढ़ जैसी आ गई। अनुवाद का आरंभ प्रेमचंद की कृतियों से हुआ, और यह उपयुक्त ही था। 1955 में उनकी कहानियों का एक संकलन रूसी भाषा में प्रकाशित हुआ। 1956 में दो उपन्यास उल्लेखनीय हैं :- गोदान, जिसका अनुवाद हिंदी से न होकर उर्दू से किया गया था और 'निर्मला" प्रकाशित हुए। 1957 में उनकी कहानियों का एक अन्य संकलन प्रकाशित हुआ। 1958 दो और कहानी संकलन और उपन्यास "कर्मभूमि" प्रकाशित हुआ। साठ के दशक में रूसी भाषा में अनूदित होकर जो प्रमुख उपन्यास छपे उनमें "गबन" 1961 में और "रंगभूमि" 1967 में प्रकाशित हुए। हिंदी से रूसी भाषा में अनुवादों का यह ज्वार 1959-60 में संभवत: अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा, और इसके बाद इसमें उतार आने लगा। इसका कारण शायद यह था कि अन्य भारतीय भाषाओं के अनुवाद भी अब हिंदी की स्पर्द्धा में आ गये थे। अब स्थिति यह है कि रूसी पढ़ने वाले लोग अब अमृत राय, उपेन्द्र नाथ "अश्क", अमृत लाल नागर, सूर्यकांत त्रिपाठी "निराला" रांगेय राघव, मोहन राकेश, फणीश्वर नाथ रेणु, भीष्म साहनी, भगवती चरण वर्मा, वृन्दावन लाल वर्मा, यशपाल तथा अन्य अनेक प्रमुख हिंदी रचनाकारों की गद्य कृतियों से तथा निराला, सुमित्रा नंदन पत, दिनकर, महादेवी बर्मा, बच्चन और अन्य कवियों से परिचित हो सकते हैं।

रूसी भाषा में अनूदित होने के अलावा, हिंदी की साहित्यिक कृतियों के अनुवाद सोवियत संघ की अन्य भाषाओं में भी हुए हैं...कभी कभार रूसी से, और ज्यादातर सीधे हिंदी से। उदाहरण के लिए प्रेमचंद की कहानियों का एक संकलन 1978 में और "गोदान" 1979 में सीधे हिंदी से यूकेनिया भाषा में अनूदित होकर प्रकाशित हुआ। युक्रेन में सीधे संस्कृत और बंगला से भी अनुवाद करने की अपनी परंपरा रही है।

सत्तर के दशक का उत्तरार्ध आते न आते हम हिंदी से रूसी में अनुवादों की नई लहर उठते देखते हैं। हम यहां फणीश्वर नाथ रेणु के एक कहानी संग्रह (1976), गजानन माधव मुक्तिबोध सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय, श्री कांत वर्मा और गंगा प्रसाद विमल की कहानियों के एक संग्रह (1978) और साथ ही प्रेमचंद के एक लघु उपन्यास (उर्दू से अनूदित) और अनेक कहानियों और निबंधों संकलन का एक खण्ड (1979) का विशेष रूप से उल्लेख करना चाहेंगे।

अनुवाद कार्य के अतिरिक्त, हिंदी साहित्य में शोध कार्य चल रहा है। प्रेमचंद पर हमारे प्रमुख विशेषज्ञ हैं श्री व० ई० बालिन् (जन्म: 1925)। आपने "प्रेमचद, द शार्ट स्टोरी राइटर" (1973) नामक पुस्तक और अनेक शोध पत्र और निबंध लिखे हैं। एक अन्य प्रेमचंद विशेषज्ञ हैं। श्रीमती न० द० गप्रयूशिना। श्रीमती न० अ० विश्नेप्स्कया ने हिंदी एकांकी पर एक पुस्तक लिखी है (1964) और छायावदी कविता पर अनेक विस्तृत शोध पत्र लिखे हैं। श्री चेलिशेव ने पंत और निराला की कविता पर एक पुस्तक (1965) लिखी है। पंत वाले भाग का हिंदी अनुवाद 1970 में भारत में प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा आपने निराला पर अलग से एक पुस्तक लिखी है। श्री स० म० एमीनोवा ने एक अज्ञेय पर विशेषता हासिल की है। श्री अ० न० सेंकेविच् (जन्म: 1941) ने बच्चन पर अपना अध्ययन प्रकाशित किया है। (1979) जिसमें आपने बच्चन को "हलाहल" के कुछ अंशों का छन्दों में अनुवाद किया है। अब इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद भी उपलब्ध है।

पचास और साठ के दशकों में प्राचीन हिंदी साहित्य कुछ हद तक उपेक्षित जैसा रहा। कहा जा सकता है कि सत्तर के दशक में इसमें कुछ परिवर्तन आया। श्रीमती न० म० सजानोवा ने 1973 में "सूरसागर" का अपना अध्ययन प्रस्तुत किया। श्रीमती न० ब० गफूरोवा ने 1976 में "कबीर ऐण्ड हिज लीगेसी" नामक पुस्तक प्रकाशित की; श्री य० व० स्वेत्कोफ् (जन्म: 1930) ने अपनी पुस्तक "सूरदास ऐण्ड हिज पोएट्री" 1979 में प्रकाशित की, और इस लेखक (जन्म: 1946) ने 1980 में अपनी पुस्तक "विद्यापति" प्रकाशित की।[1] विद्यापति की कविता को एक व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में हिंदी साहित्य में सम्मिलित किया जा सकता है। उक्त चारों पुस्तकों में क्रमश: सूरदास, कबीर और विद्यापति की कुछ कविताओं का (तथाकथित स्वानिक) गद्यानुवाद शामिल है।

हिंदी कविताओं के पद्यानुवाद की कुछ कठिनाइयां हैं। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, अनेक हिंदी कवियों की कविताओं का रूसी पद्य में अनुवाद किया गया है। किंतु सामान्यत: इनके अनुवाद का सामान्य नियम इस प्रकार था : पहले तो हिंदी जानने वाला कोइ व्यक्ति किसी कविता के प्रत्येक शब्द का अनुवाद कर देता था। इसके बाद कोई कवि (या अपने को कवि समझने वाला कोई व्यक्ति) इस कच्चे माल को रूसी पद्य में ढाल देता था। देखा जाये तो वैसे यह तरीका खुद में बुरा नहीं हैं। रूसी साहित्य के इतिहास में इस तरीके से किए गये अनुवाद के अनेक सफल उदाहरण मौजूद है। बीसवीं शताब्दी में अनेक प्रसिद्ध कवियों ने जैसे अ० ब्लोक्, अ० अख्मातोवा, व० पस्तेनक् आदि ने विदेशी काव्य-रचनाओं का इसी पद्धति से अनुवाद किया गया है। लेकिन जहां तक हिंदी कविता की बात है, इसका अनुवाद करने वाले लोग अगर कवि भी थे तो कोई बड़े

1. यहां यह उल्लेख कर देना ठीक होगा कि 1976 में एक प्राचीन ब्रज ग्रथ 'सुनिसार' जिसकी रचना 'बस्तावर' ने की थी, का पाठ अनुवाद और एक अध्ययन के साथ 1976 में प्रकाशित हुआ था। इसका प्रकाशन इ० द० सेरेब्रेयकोफ (1917) ने किया था जो मूलत: संस्कृत और पंजाबी भाषा के विद्वान हैं।

कवि नहीं थे। परिणामत: हिंदी के जो बहुत ही प्रसिद्ध कवि हैं, उनके रूसी अनुवादों को भी पढ़ कर रूसी पाठक पर कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

इससे बचने के दो ही रास्ते हैं। पहला तो यह है कि ऐसे प्रतिभाशाली लोग सामने आयें जिन्हें हिंदी भी आती हो और जो रूसी में अच्छी कविता भी लिख सकते हैं। जहां तक मैं जानता हूं, ऐसे दो ही व्यक्ति हैं जो कुछ हद तक इस आदर्श के निकट पहुंचते दिखते हैं। एक हैं श्रीमती म० ल० सल्गानिक् जो भारतीय विद्वानों के बीच एक सुपरिचित नाम है। आपने अज्ञेय और अन्य प्रयोगवादी तथा नयी कविता के कवियों की रचनाओं का सीधे हिंदी से अनुवाद किया है। दूसरे महानुभाव हैं श्री शंखेविच् जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। आप का नाम भी भारत में पहले ही जाना पहचाना है। आपने बच्चन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय और नयी कविता के अन्य कवियों की रचनाओं का अनुवाद सीधे हिंदी से किया है। एक दूसरा तरीका यह है कि इस प्रकार के अनुवादों में एक ईमानदार भाषाविद् और एक सचमुच अच्छा कवि मिलकर काम करें। यह आसान रास्ता नहीं है। लेकिन इस प्रकार के कुछ प्रयोगों के परिणाम आशाप्रद रहे हैं।

किसी भी दशा में, हिन्दी से रूसी में अनुवाद करते समय जैसा कि किसी भी गैर यूरोपीयन भाषा से रूसी भाषा में (या अन्य किसी यूरोपीय भाषा मे) अनुवाद करते समय केवल भाषा सम्बन्धी या काव्यात्मक समस्याएं ही नहीं होतीं। यह एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में अनुवाद करने का काम है। इसमें सचमुच सफल होने के लिए अनुवाद के कार्य को समग्र भारतीय संस्कृत के ज्ञान और उसके शोध से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होना चाहिए। लेकिन दुर्भाग्यवश पचास के दशक से ही समकालीन हिन्दी साहित्य के अध्ययन के साथ इस प्रकार के शोध कार्य का कोई संबंध नहीं रहा है। यह मात्र एक संयोग ही नहीं है कि जयशंकर प्रसाद की "कामायनी" या दिनकर की "उर्वशी" या पंत की लंबी कविताओं का अनुवाद अभी तक रूसी भाषा में नहीं हुआ है। इनका अनुवाद करने के पहले इनका भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण घटनाओं के रूप में गम्भीर रूप से शोध कार्य किया जाना चाहिए। अब मैं संक्षेप में सोवियत संघ में किए जा रहे हिन्दी शोध कार्य के एक अन्य क्षेत्र की चर्चा करूंगा जिसकी सीमाएं भाषा विज्ञान, साहित्यिक अध्ययन, समाज शास्त्र, इतिहास, यहां तक कि राजनीति शास्त्र जैसे विषयों का भी स्पर्श करती हैं। यह क्षेत्र है हिन्दी की विभिन्न तथा कथित बोलियों का अध्ययन जिनमें कुछ ऐसी हैं जो सुविशाल हिन्दी भाषी क्षेत्र मे वस्तुत: गौण भाषाओं का ही स्थान रखती हैं। (यहां यह ध्यान देने की बात है कि भाषा शास्त्रियों के पास "भाषा" और "बोली" की कोई स्पस्ट पृथक परिभाषा नहीं है) इस क्षेत्र के एक प्रमुख विद्वान हैं। श्री व० अ० चेर्निपाफ् (जन्म: 1927) जिन्होंने मानक हिन्दी और "बोलियों" के पारस्परिक सम्बंधों का भाषा विज्ञान, साहित्य, इतिहास और राजनीति के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है। उनकी दो पुस्तकें, "डायलेक्ट्स ऐण्ड द लिटरेरी हिन्दी" (1969) और "द डायनमिक्स आफ लिंगुइस्टिक सिचुएशन इन नार्दन इण्डिया" (1978) दृष्टव्य हैं। इस संबंध में कम से कम दो अन्य विद्वानों का उल्लेख आवश्यक है; श्री ब० ई० क्लूयेफ्, जिन्होंने "नेशनल—लिंगुइस्टिक प्राबलम्स आफ इन्डिपेंडेंट इंडिया" (1978) नामक पुस्तक लिखी है, और श्री प० अ० बरान्निकोफ्, जिन्होंने "प्राब्लम्स आफ हिन्दी ऐज द नेशनल लैंग्वेज" (1972) लिखी है।

निष्कर्ष के रूप में मैं सामान्य रूप से एक व्यक्तिगत बात कहना चाहता हूं। ऊपर दी गई रूप रेखा से देखा जा सकता है कि हमारे देश में अधिकांश विद्वानों ने हिन्दी का एक अत्यंत जटिल विषय के रूप में अध्ययन किया है और कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी का इसके अनेक और विभिन्न घटकों सहित (इनमें से अनेक घटक शायद सही अर्थ में जिसे हिन्दी कहा जा सके उसकी परिसीमा में आते ही नहीं) और एक विशिष्ट तथा पेचीदा सामाजिक-सांस्कृतिक सांचे के संदर्भ में अध्ययन किया जा रहा है। वस्तुत: जिस प्रकार भारतीय संस्कृति की व्याख्या आमतौर पर "विविधता में एकता" के प्रतीक के रूप में की जाती है उसी प्रकार यही बात हिंदी जगत पर भी लागू होती है। अंदर से देखने पर यह विविधता ज़्यादा स्पष्ट लग सकती है। (अथवा जान बूझकर इस विविधता को उजागर किया जाता है), किंतु बाहर से देखने वाले के लिए इसकी एकता का तत्व उतना ही प्रकट और महत्वपूर्ण है। मेरी समझ से हिंदी का यह विशिष्ट विविधता-गुण, उसके विभिन्न घटकों का यह अनेकत्व और बाह्य सम्बन्ध हिन्दी की बहुत बड़ी शक्ति है, जिस प्रकार वह सामान्य भारतीय संस्कृति की शक्ति है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश; फिर ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि। अपेक्षाकृत नई भाषाएं (जिन्हें अक्सर भ्रमवश हिन्दी की "बोलियां" समझ लिया जाता है); फारसी, तुर्की और अरबी संस्कारों से युक्त उर्दू भाषा जिसका इस्लामी संस्कृति के विस्तृत जगत से सम्बन्ध हैं; पड़ोस की नयी इंडो-आर्यन भाषाएं-पूर्व में पहले बंगला और पश्चिम में पंजाबी; और अन्त में अंग्रेजी, जो आधुनिक यूरोपीय संस्कृति की प्रतिनिधि है, (और कुछ नगण्य सीमा तक अन्य यूरोपीय भाषाएं...इन सभी ने आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के निर्माण में मुख्य रूप से योगदान किया है। और यही वह समृद्ध और विविधतापूर्ण विरासत है जिसके आधार पर हिन्दी संसार की एक प्रमुख भाषा के रूप में उत्तरोत्तर विकास करती हुई फूले-फलेगी।

—(23-2-197, शिपिलोफ्सलीविया स्ट्रीट,
मास्को-115563, सोवियत संघ)
—अनुवादक : श्रीमती ललिता तिवारी
531-ए/सेक्टर 3 रामाकृष्ण पुरम, नई दिल्ली-110022

जर्मन जनवादी गणतंत्र में हिंदी

डा० राधाकृष्ण सहाय

सुन रखा था कि विदशों में हिंदी जाननेवाले, बोलने वाले व्यक्ति हैं, और वहां वैसा व्यक्ति एक हिंदुस्तानी के साथ हिंदी में ही बात करने की कोशिश करता है। इसलिए जब मैं फरवरी 4, 1974 को हुम्बोल्ड्ट विश्वविद्यालय के एशियन संस्थान में अपने कार्यालय पहुंचा और पहुंचते ही एक जर्मन ने खड़े होकर बिल्कुल भारतीय ढंग से कहा—"स्वागत, डा० सहाय" तब मुझे आश्चर्य नहीं हुआ था, बल्कि एक सुखद अनुभव हुआ था।

वह व्यक्ति थे डा० नेसपिटाल, जो वहां उर्दू के प्रोफेसर थे। थोड़ी ही देर बाद कमरे में आई थी श्रीमती बर्नर। वे वहां हिंदी की प्राध्यापिका थीं। उन्होंने अपने ढंग से हाथ मिलाते हुए हिंदी में बातें शुरू की थीं। वे अपने पति के साथ बम्बई में स्थिति पूर्वी जर्मन कौंस्लेट में पांच साल तक रह चुकी थीं। स्वभावत: इन दोनों की हिंदी में स्पष्ट अंतर था। डा० नेसपिटाल की हिंदी किताबी थी जबकि श्रीमती बर्नर की बोलचाल वाली।

यूरोपीय विश्वविद्यालयों की शिक्षण प्रणाली हमारे यहां की पुरानी परम्परा जैसी है जिसे कुल-परंपरा कहते हैं। एक शिक्षक के जिम्मे कुछ छात्रों को लगा दिया जाता है और उन छात्रो का संपूर्ण दायित्व उस शिक्षक पर होता है। संरक्षण प्राप्त छात्रों और शिक्षक के बीच संवाद सीधा होता है। शिक्षण के मामले में पुन: किसी अन्य का हस्तक्षेप नहीं होता।

पहले ही दिन एशियन संस्थान के निदेशक ने मेरे संरक्षण में दस छात्रों को सौंप दिया। उनमें आठ छात्राएं थीं, दो छात्र। थोड़ी ही देर में बात करके मुझे अंदाज लग गया कि वे सभी छात्र व्याकरण-सम्मत हिंदी जानते हैं। एक सप्ताह के भीतर मैं अपने छात्रों से भली-भांति परिचित हो गया। उनका व्याकरणिक ज्ञान तो बहुत ही ठोस था, पर वे अपने को हिंदी में अभिव्यक्त कर सकने में असमर्थ थे। वे लिखा हुआ पढ़ लेते थे। किसी हद तक वे लिख भी सकते थे लेकिन, वे तेज़-तेज़ बोली जाने वाली हिंदी को समझ नहीं सकते थे। बोलने में तो वे बिल्कुल ही असमर्थ थे।

ऐसी स्थिति में, मेरी पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि मुझे यहां शायद हिंदी बोलने का अभ्यास करवाने की गरज से बुलाया गया है। जो कि यह काम अपने आप में न तो घटिया है और न बुरा पर एक दूसरे ढंग की प्रतिक्रिया से मैं भर उठा। मुझे लगा, कहीं ये छात्र हिंदी सीखकर मेरे देश के खिलाफ खुफिया-गिरि तो नहीं करेंगे। क्या ऐसे काम में सहयोग देना उचित होगा? राष्ट्र के अहित की आशंका से मैं तिलमिला उठा था। ऐसी प्रतिक्रिया के लिए न तो मैं दोषी था, न उन छात्रों का आचरण, बल्कि, कुल मिलाकर इसके पीछे वहां का रहस्य भरा परिवेश दोषी था, जो ढंका-ढंका, प्रच्छन्न और अस्पष्ट था। संपूर्ण वातावरण ही रहस्यमय लगा था। संभवत: इसी से मैं आशंकित और भयभीत हो उठा।

इसके लिए मैंने तय किया कि मैं संस्थान के निदेशक से मिलूंगा। मैं उनसे जल्द ही मिला और मैंने उनसे स्पष्ट कहा "यदि भारत से मुझे यहां हिंदी बोलने के अभ्यास के लिए (नेटिव स्पीकर) सूचक के रूप में बुलवाया गया है तो मेरे या मेरी सरकार के प्रति सरासर अन्याय है।" उस समय उन्होंने मुझको आश्वासन दिया कि मैं जिस रूप में पढ़ाना चाहता हूं या मैं जो भी पढ़ाना चाहता हूं उसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं। फलत: मैंने साहित्य और भाषा संबंधी एक पाठ्यक्रम बनाया और उसी आधार पर शिक्षण आरंभ किया।

इस बदले हुए पाठ्य-क्रम के साथ मेरे साथ केवल दो छात्राएं जुड़ी रहीं। शेष आठ छात्र, छात्राओं का विषय तो नहीं बदला पर उनका मेरे साथ कोई संपर्क नहीं रहा। इसी समय मेरे साथ दो भिन्न काम जुड़ गए। एक था, श्रीमती बर्नर के शोध कार्य का निदेशन, जो पी० एच० डी० की उपाधि के लिए "हिंदी तथा जर्मन सकर्मक क्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर काम कर रही थी। दूसरा था, भारत सरकार और ज० ज० ग० सरकार के सहयोग से तैयार होने वाले हिंदी-जर्मन कोष में सहायता।

कुछ ही दिनों के भीतर जर्मन भाषा सीखने के क्रम में मैं वहां की भाषा प्रशिक्षण विधि को समझ सका। वहां भाषा प्रशिक्षण की प्रणाली अत्यन्त आधुनिक है। दुनिया की किसी भी भाषा का कामचलाऊ ज्ञान वे नौ महीने के भीतर दे देते हैं। जिसे वे 'कुर्टस डिप्लोम' कहते हैं। भाषा शिक्षण तकनीकी माध्यमों से दिया जाता है। भाषा के यांत्रिक पक्ष को वे यंत्रों के सहारे सिखलाते हैं और उसमें उन्हें कभी कोई असफलता नहीं मिलती है, मिल भी नहीं सकती है। आदमी जिस तरह मातृभाषा सीखता है उसी तरह वे कोई भी भाषा सिखलाते हैं। पढ़ाई वाक्यों से शुरू होती है—पहले सरल, फिर मिश्रित फिर जटिल। वाक्यों को वे स्लाइड्स, टेप रेकार्डर, रेकार्डस के जरिए सिखलाते हैं। टेप सुनकर टेप पर बोलना, स्वत: संशोधित करते चलना, भाषा अभ्यास के मुख्य साधन होते हैं जिनमें सुनने और बोलने की क्रिया एक साथ चलती है। इस तरह, वाक्यों के साथ-साथ प्रशिक्षक व्याकरण का मौखिक और तब लिखित अभ्यास करवाता है। वहां के लोग कोई भी काम निष्ठा और श्रम के

लेखक सन् 1954 से ही शिक्षण कार्य कर रहे हैं। वे वर्ष 1958-59 में विश्व भारती में अध्यायान कार्य कर चुके हैं। और 1974–77 में पूर्वी बर्लिन के हुम्बोल्ड्ट विश्वविद्यालय में हिन्दी के अतिथि प्रोफेसर थे। उनके इस संस्मरणात्मक लेख से पाठकों का ज० ज० ग० में हिन्दी शिक्षण पद्धति की जानकारी हो सकेगी। —संपादक

साथ करते हैं। सुबह आठ बजे से शाम पांच-छह बजे तक वे शिक्षक के साथ या बिना शिक्षक के प्रयोगशाला में काम करते हैं। यही कारण है कि वे तीन माह बीतते-बीतते बोलचाल की भाषा सिखला देते हैं।

ज० ज० ग० में मेरे वहां जाने के पांच, छः साल पहले हिन्दी के जो शिक्षक थे वे सी० पी० आई०, भारत की अनुशंसा पर वहां गए थे। वैसे लोग सदा से वहां आते, जाते रहे हैं। इधर, दोनों सरकारों के बीच हुए अनुबंध के अनुसार पहली बार मैं वहां गया था। परिणामतः हिन्दी-शिक्षा का जो स्वरूप वहां होना चाहिए था उसका वहां नितान्त अभाव था। पुस्तकें लगभग नहीं के बराबर थीं। जो पुस्तकें थीं वे उन्हीं लेखकों, साहित्यकारों की थीं जो किसी न किसी रूप में भारत की सी० पी० आई० से संबद्ध रहे हैं। आश्चर्य तो मुझे तब हुआ था जब वहां प्रेमचंद के 'निर्मला' उपन्यास के अलावा उनकी कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं थीं, जब कि सी० पी० आई० के लोग प्रेमचन्द को बराबर से अपने खेमें में शामिल करते आए हैं। हां, कुछ पुस्तकें यशपाल, अमृतराय या भैरवप्रसाद गुप्त की जरूर थीं।

संयोगवश, भारत सरकार ने मुझे एक हजार रुपये की पुस्तकें भारत से अपने साथ ले जाने के लिए अधिकृत किया था। मैं कुछ पुस्तकें साथ ले गया था और पहुंचते ही मैंने भारत सरकार के साथ संपर्क किया और मुझे पुनः दो हजार रुपये की पुस्तकें उपलब्ध कराई गई, जिसकी सूची मैंने स्वयं तैयार की थी। इस तरह साढ़े तीन वर्षों के प्रवास-काल में मैंने अन्य स्रोतों से भी पुस्तकें जुटाने की कोशिश की। उदाहरण के लिए, अपने प्रत्येक मित्र और स्थापित लेखकों, कवियों, नाटककारों के साथ संपर्क स्थापित किया। अधिकांश साहित्यकारों ने मौन साध लिया परन्तु कुछेक ने अपनी पुस्तकें अपने खर्च पर भेजने की कृपा की।

मैंने अपने अध्ययन-अध्यापन को भाषा से साहित्य की ओर मोड़ दिया। मेरी दो छात्राओं, हनी ल्युत्स्के तथा क्रिस्टीना ओएब्स्टर ने हिन्दी में डिप्लोमा (एम० ए०) पूरा किया। ल्युत्स्के ने शोध कार्य भी शुरू किया। उनका विषय था 'हिन्दी कथा साहित्य में कृषक'। उस समय तक कई कारणों से मेरा भारत वापस होना आवश्यक हो उठा था और मैं 1977 की जुलाई में वापस आ गया। इस संदर्भ में, यह बता देना आवश्यक है कि 1976 में ही श्रीमती बर्नर अपना शोध कार्य पूरा कर चुकी थीं और और उन्हें पी० एच० डी० की उपाधि भी मिल चुकी थी।

वहां के अध्ययन-अध्यापन के सिलसिले में मैंने यह पाया कि विश्वविद्यालयी शिक्षा के वे ही लोग अधिकारी होते है जिन्हें विश्वविद्यालय में काम करने का अवसर मिलता है। इसलिए भारतीय विश्वविद्यालयों की तरह वहां भीड़ नहीं होती। बहुत ही सीमित संख्या में वहा के विश्वविद्यालयो में लोगों को काम करने का अवसर मिलता है जिन्हें सरकार चाहती है। तात्पर्य यह कि विश्वविद्यालय में जितने व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उतने ही व्यक्तियों को वहां ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता है। प्रत्येक छात्र को वहां 600/- मार्क (यदि अभिभावक की आमदनी नियमानुसार अधिक नहीं हुई तो) की छात्रवृत्ति मिलती है जो एक व्यक्ति के जीवनयापन के लिए पर्याप्त है। सीमित संख्या में होने के कारण वे छात्र तुरंत स्टाफ में चले आते हैं और उनका कार्यक्षेत्र तभी से निर्धारित हो जाता है। वे अपना पूरा जीवन उसी क्षेत्र में लगा देते हैं। मसलन्, प्रारंभ में मेरे साथ के शेष आठ छात्रों को हिन्दी भाषा की शिक्षा तो दी गई लेकिन उन्हें 'डिप्लोमा' की उपाधि प्राप्त हुई, यह मेरी जानकारी में नहीं हैं। भाषा-शिक्षण की अवधि एक साल से अधिक नहीं होती। इसके बाद वे कहां गए, उन लोगों ने कौन-कौन से पेशे अपनाए, यह मुझे ज्ञात नहीं।

इस तरह, पूर्वी जर्मनी में हिंदी भाषा के जानकार लोगों में मैं तीन-चार को ही जान सका। लाइपजिग विश्वविद्यालय (बर्लिन से 60 किलोमीटर दूर) में थीं डॉ० मारगांट गास्स्लाफ। आपने प्रेमचंद के 'निर्मला' उपन्यास को जर्मन भाषा में रूपांतरित किया जो 1976 में फ़रलाग फ़िलिफ रेक्लास सुन, लाईपज़िश से प्रकाशित भी हुआ। अन्य थे डा० श्रीमती बर्नर, सुश्री हनी ल्युत्स्के, सुश्री क्रिस्टीना ओएब्स्टर एवं डा० हेलमूर नेसमिटाल। डा० नेसमिटाल वास्तव में उर्दू के जानकार थे। भाषा को जानकारी रखने वालों की संख्या और भी थी परंतु उनका कार्यक्षेत्र हिंदी से संबधित नहीं था। वैसे भारत-विद्या के विशेषज्ञ वहां नए-पुरानों मे अनेक थे। किसी ने बंगला, किसी ने गुजराती, किसी ने संस्कृत को अपना-अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। ऐसे लोगों में वुल्फ़गांग मारगेन रांथ और रोसेण्ड बिअर के नाम विशेष रूप ले लिए जाने चाहिए। इन दोनों का कार्यक्षेत्र संस्कृत था और इन्होंने संस्कृत से जर्मन में पर्याप्त अनुवाद किए हैं। इनकी रुचि हिंदी में भी थीं। इन दोनो में भी रोलैन्ड बिअर विशेष रूप से स्मरण योग्य है जिनके सहयोग से मैंने 'कबीर' (कबीर के दोहों एवं कुछ पदों का) तथा 'इंडिशे स्टयुक' (आधुनिक भारत के चार प्रमुख नाटक—'आधे-अधूरे,' 'मुहम्मद तुगलक,' 'शांतता कोर्ट चालू' तथा 'इंद्रजीत' पुस्तकें जर्मन भाषा में तैयार कीं। 'कबीर' का प्रकाशन वाइमार की प्रकाशन संस्था 'गुस्ताव किपेनहयोयर फरलाग' से तथा 'इन्डिशे स्ट्युक' का प्रकाशन बर्लिन स्थित 'हेन्मेल फरलाग' से 1980-81 में होने वाला था। अब तक ये पुस्तकें प्रकाश में आ सकीं या नहीं, मुझे मालूम नहीं।

पूर्वी जर्मन सरकार और भारत सरकार के सहयोग से हिंदी जर्मन तथा जर्मन हिंदी कोश तैयार हो रहा था। निश्चय ही, यह एक आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य का संपादन होगा। भारत सरकार की ओर से डा० हरदेव बाहरी, डा० तलगिरि एवं श्री जैन विशेषज्ञ रूप में मेरे रहते गए थे। मैं ज० ज० ग० की ओर से उस योजना में सम्मिलित किया गया था। जनवरी 1966 तक जितना काम जर्मनी में होने वाला था वह लगभग

(शेष पृष्ठ 50 पर)

इस अंक के विशिष्ट कवि

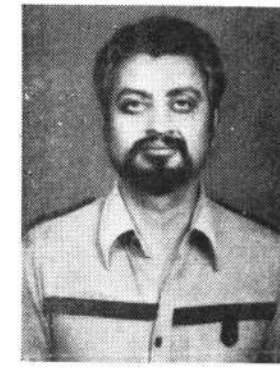

अतुलवीर अरोड़ा की तीन कविताएं

"मेरे लिए कविता-नाटक, अभिनय" खुद को और अपने आसपास को पहचानने की कोशिश है। पहचानने की इस प्रक्रिया में मैं कविता, कहानी, नाटक और रंगमंच के क्षेत्रों में भटकता हुआ.... नजरों में से आसपास उभरता हुआ आलोचना का तीर-तीखा तेवर और दूसरों की नाराजगी बटोरता रहता हूं। जहां तक मैं समझता हूं मेरी कविता शब्दों, अर्थों और बिम्बों के अनेकानेक स्तरों पर बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जीवनानुभवों में से होकर गुजरती हुई एक फैलाव में व्याप्त हो जाती है।... इनमें शायद वैयक्तिक 'आब्जर्वेशन' बाह्य 'आब्जर्वेशन' में घुलने लगता है। घुलने की इस चेष्टा में मेरी कविता व्यक्ति से समाजकी ओर यात्रा करती हैं।

—अतुलवीर अरोड़ा

पूरे आकाश में-1

बारिश जब नहीं होती
और पूरे आकाश में
मटमैली चादर-से बादल ही बादल
फैले ठेले रहते हैं
हवा बंद होती है
और मौसम वीरान
तो भीगे नम पंखों में
पेड़ को टहनी पर
कोई एक पक्षी धीरे से आता है।
ठंडी गलो चोंच को
टहनी की खाल पर
रगड़ता पोंछता-सा
मौसम के खुलने को सूचना
संभावना
और पूर्वाभास सब कुछ
मिला-जुला जगाता है
ऊपर उड़ जाता है।
बीचों बीच आकाश को चोंच से
भेदता हुआ
पंखों जितनी थोड़ी सी जगह के लिए।

पूरे आकाश में-2

पत्ते उसके उड़ने से
नींद से जागे-जागे देर तक हिलते हैं
और अपनी काया में
मौसम के खुलने की सूचना दर्ज करते हुए
पड़ौसी वनस्पतियों से बातचीत करते हैं।
बादल अपने जिस्म का
सारा जल समेट कर
मटमैली चादर की जालीदार छननी से
टपकते टपकाते हैं बूंद-बूद देह
गोले नक्षत्रों-से धूप में चमकते हैं
पक्षी के पंख
जो धीरे-धीरे सूरज
किरणों के संमातर
उड़ता चला जाता है!....
पूरे आकाश में।

बांध

बांधा मैंने बांध
तेज़ बहती धार पर
धार लेकिन तेज़
तोड़ गयी बांध।
टूटे इस बांध के
शेष अभी शेष हैं
धार की तेज़ी में भी तने
जैसे खड़े हैं
पीटती हुई छाती को बज रही है धार।
धार में धार के बजने की आवाज़
धार की जितनी है
कहीं ज्यादा उससे आवाज शेष बांध की है
खड़ा है जो धार के बीच बहती धार पर
धार के अपने पर बजते गहरे नाद में
मुग्ध....
जैसे स्थिरता में आसक्त आश्वस्त
गड़ा हुआ
धरती में
चट्टानों के साथ
जैसे खड़ी चट्टान हंसती है धार पर।

—14 सैक्टर 8-ए, चण्डीगढ़-160008

सच कहना

जगत सिंह

इस तरह क्यों बदल जाता है सब कुछ
कि हमें तलाशनी पड़ती है पुरानी पहचान
फूलों, झाड़ियों और घास के तिनकों में।
किसी राक्षसी सम्मोहन के तेहत
हाय-हाय करती सड़कों पर सुबह से शाम
बीसवें माले पर टंगा हमारा अकेला सुख-दुख
रात के सन्नाटे में
कमरे से बरामदे का चक्कर लगाता है,
टेरते हैं होंठ किसी भूले हुए गीत को
जो याद नहीं आता है।
क्यों चले आये हम कंक्रीट के तिलिस्म में
सच कहना, तुम्हें कोई शिकायत तो नहीं ?
दिल्ली से किन्नर कैलाश तक सुकून की तलाश
धरती से आसमान तक पसरे सन्नाटे के बीच
किसी मृदु मथर पहाड़ी गीत के आसपास
अपने होने का अहसास करवट लेता है।

पहियों पर सवार इस शहर में लेकिन
जोखिम है भीतर का सफर
निषिद्ध हैं यादों के नखलिस्तान
भटके हुए गीतों के टुकड़े।
हर आदमी के भीतर एक सहरा है
गली कूचों में भ्रष्ट हवाओं का पहरा है।
खदेड़ दिए गए हैं ऋतुराज
जंगलों और गावों में
सिर्फ पड़ोस की पांच गुणा डेढ़ की बगिया में
अकेला एक गुलाब बैंगन से परास्त होने होने को।
यह शाम अगर इतनी उदास न होती...
सुनो, तुम इस तरह खामोश मत हो
आज सिर्फ सुनो नहीं, कहो
तुम्हें मुझसे कोई शिकायत तो नहीं।

—के० डी०-19 सौ, अशोक विहार, दिल्ली 119052

नहीं

डा० सुधेश

'नहीं'
एक बन्द फाटक
जिसे खोलने को चाहिए
एक जोरदार
प्रश्नवाचक
'नहीं'।

'नहीं'
विवेक के निश्चय का एलान
जैसे दो देशों के बीच
युद्धघोषणा।

'नहीं'
नकारात्मक नहीं सर्वदा
जैसे युद्ध
जिसके बाद
संधि का संगीत उसी तरह
जैसे दो 'नहीं'
मिलकर हो जाते है
'हां'।

मन्द मुस्कान के बीच तैरती
उनकी 'नहीं'
'हां' से बढ़कर
जैसे
दो तटों को जोड़ती
धारा में बहती नौका।

—प्लैट 1317, पूर्वांचल, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067

शाम होते ही

डा० प्रकाश मनु

शाम होते ही—
भीतर कहीं गहरे
पुकारती हैं आत्मीय छायाएं।
पुकारने लगती हैं
लाल सुनहली संवेदनाएं,
दिल के पास
सरक आती हैं—
सुदूर फैली हुई दिशाएं।
विगत यादें
मीठे-मीठे दर्द से रचे-बसे चेहरों
की शक्ल में,
पास बैठ
बतियाने लगती हैं।
सहसा नजदीक आ-आकर
घेर लेते हैं
गहन भावनाओं में डूबे हुए
मित्रों के स्नेहिल व्यक्तित्व,
एक शीतल लहकती आंच का-सा
स्पर्श जगा देता है दिल में
एक और नया संसार।

शाम होते ही क्षितिज पर
उभरता है एक सुनहला बिम्ब
आत्मीयता का,
एक सुनहली झलमलाहट
हंसती है
हंसती है भीतर कहीं गहरे—
और दूर-दूर तक अंतरिक्ष लाल
गुलाबी
से रंग जाता है।
मंद-मंद अन्तर-सुख से भीग कर
लहरें जलाशय की
पीने लगती हैं—
छतनार दरख्तों से छनती
बारीक किरणों को-सी
बारिश को,
और लगता है
धरती से आसमान तक की दूरी
कसी हुई है—

स्नेह के बारीक सूत्रों से
भरपूर।
शाम होते ही
हवा को काटती हजारों-हजार
तेज उड़ानें
चिड़ियों की
अकुला कर ढूंढने लगती हैं
नीड़—
सुख।
और फिर
हर नीड़ के भीतर
दिलों के परिचित उजाले में
बस जाती हैं
पूरी एक दुनिया—
पूरा एक सचेतन भाव-संसार
सृष्टि का।

—804/5, निकट जिला रोजगार
कार्यालय, कुरुक्षेत्र-132118
(हरियाणा)

धूप और कांच

राम कुमार आत्रेय 'प्रभाकर'

सावधान
जरा आंख खोल कर
देख लेना, बंधु।
कि कठोर शीत-सी
जिन्दगी में
जरा-सी राहत के लिए
नर्म-गर्म धूप के
उजले-गुनगुने टुकड़े
जिन्हें तुम
अपनी हथेलियों में
समेट लेना चाहते हो
कहीं कांच के टुकड़े न हों
और हथेलियां कहीं
गर्म-गुदगुदे
सुख-स्पर्श की अपेक्षा
लहूलुहान न हो जाएं
क्योंकि आजकल
धूप को पीछे धकिया कर
कांच ही इतिहास
बनने की कोशिश में लगा है
सच्चे आदमी को
इसी कांच ने
न जाने कितनी बार ठगा है

साहित्य कुटीर, मु० पो० करोड़ा,
जि० कुरुक्षेत्र,
हरियाणा 132043

फागुन

अमवा की डाली-डाली पर बौराया फागुन,
कोयल कुहुक उठी—आया फागुन, आया फागुन !
चाल हवा की और धूप के रंग-ढंग बदले,
एक नजर में ही सबके मन को भाया फागुन ।
टेसू के फूलों से जंगल भर में आग जगी,
नयी आग अपने छंदों में भर लाया फागुन ।
सरसों बेटी के हाथों को पीला करते ही,
लगता है—कितना हरषाया-हरषाया फागुन !
चेहरे पर 'होली' के रंगों का उल्लास लिए,
गावों-कस्बों के जन-जीवन पर छाया फागुन ।

जहीर कुरेशी

फागुन की धूप

व्योम-करघे पर तनी यह धूप,
है बड़ी सुख-दायिनी यह धूप !
एक अच्छा 'मित्र' लगती है,
चाय जैसी गुनगुनी यह धूप ।
घुल रही है रक्त में ऐसे—
हो, यथा, संजीवनी यह धूप ।
स्वर्ण-गहनों से सजी-संवरी,
रूप से भी है धनी यह धूप ।
'माघ' को 'अलविदा' कहते ही—
हो गई है फागुनी यह धूप ।

—"समीर कॉटेज," सूर्य नगर, शब्द प्रताप आश्रम के पास, ग्वालियर-474-012 (म० प्र०)

ग़ज़ल

मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश'

व्यर्थ बन्धन को तोड़कर चल दें
क्यों न बिखरे को
जोड़ कर चल दें
राह रोके खड़ी शिलाओं को
क्यों न हम तोड़-फोड़ कर चल दें
लाख झोंकों में लौ लगी न बुझे
हम हवाओं से होड़ कर चल दें
है न यह ठीक एकरस बहना
क्यों न धारा को मोड़कर चल दें
कुछ तो माहौल बदल जाये, नया
एक अध्याय जोड़ कर चल दें
याद भूले न भुलाये उनके
वह जगह दिल में छोड़ कर चल दें
जी उठें लोग, गजल में अपनी
हम कलेजा निचोड़ कर चल दें

तिउरियार भवन, यारपुर, पटना-1

घोंसला

अरुण सातले

अब नहीं चाहता मैं
मेरे मन की गलियों में
तुम्हारी यादें फिर से शिविर लगायें
यातनाओं का...
सहा नहीं जाता अब
मन के आंगन में
बिछी दूब पर चहलकदमी करना
भावनाओं का...
फिर भी जाने क्यों इस तनहाई में
तुम्हारी यादों के परिन्दे
चोंच मार जाते हैं
और तब...बड़ी उम्मीद से
प्यार के उन तिनकों को लेकर
मैं मन के किसी कोने में
फिर एक घोंसला बना लेता हूं...

—माली कुंआ, खण्डवा-450001 (म० प्र०)

नजर न आया

माधवी गोयल

हकीकत को जब सामने रखकर
जीना चाहा तो कुछ भी सच
नजर नहीं आया ।
जीने को तो जीते रहे
मर-मर कर भी
मगर जीने को कुछ भी
नजर नहीं आया
सच क्या था ? झूठ क्या था ?
फर्क इनमें कुछ भी
नजर नहीं आया ।
हकीकत को जब सामने रखकर
जीना चाहा तो कुछ भी सच
नजर न आया ।
जीने की एक हद तक
गुजर जाने के बाद भी
जीने का अब तक मजा नहीं आया
हां, अब तो जिएंगे
जिंदगी बसर करने के लिये
जिंदगी का मकसद चाहे अभी कोई
नजर नहीं आया ।

अम्बाला छावनी, अम्बाला

मोरिशस को छटपटा रही हिंदी

अभिमन्यु अनत

हिंदी मोरिशस में उसी समय से बोली जाती है जब से भारतीयों का इस देश में कुली के रूप में आना शुरू हुआ था। ये प्रवासी लोग अपने साथ हिंदी में हनुमान चालीसा और रामचरितमानस जैसी पुस्तकें लाए थे और उन्हीं दो-तीन पुस्तकों के बल पर इतिहास के दुख-दर्द और शोषण को सहकर भी बंजर पड़ी ज़मीन की बोआई करते रहे और फसल काट-काट कर इस देश को समृद्धि देते रहे।

इन भारतीय मज़दूरों की हर गांव में अपनी बैठकें थीं जिनमें हिंदी की पढ़ाई होती थी। धीरे-धीरे हर गांव में इन बैठकों की संख्या बढ़ती गई और आज कुछ गांवों में 5-10 बैठकें भी बन गई हैं। पहले-पहल इन बैठकों में भोजपुरी के साथ-साथ हिंदी में मजदूर समस्याओं और संस्कृति पर चर्चा होती थीं। हर शाम उन बैठकों में तीन घंटे हिंदी निःशुल्क पढ़ाई जाती थी। हिंदी पढ़ाने वाले भी मज़दूर ही थे जो दिन भर ईंख काट-लाद कर थके-मांदे घर लौटते थे और बड़ी लगन और निष्ठा के साथ हिंदी के प्रचार-प्रसार के काम में जुट जाते थे। आगे चलकर शहरों में भी बैठकों की नींव डाली गई और वहां भी हिंदी पढ़ाई जानी शुरू हुई।

150 साल तक हिंदी हमेशा गरीबों और आम आदमियों की, मज़दूरों की भाषा रही, उनके धर्म संस्कृति और साहित्य की भाषा रही। मोरिशस की ज़मीन की सोंधी गंध के साथ यह भाषा विकास करती रही और उसी के बल बैठकें देश की शक्ति बनती गयीं। डेढ़ सौ साल पहले मोरिशस पहुंचे भारतीय मज़दूर जब मोरिशस की ज़मीन से जुड़ सके और आज एक राष्ट्र में बंधकर मोरिशयन बन सके तो फिर उनके साथ हर वक्त कदम के साथ कदम मिला कर चलने वाली उनकी वह भाषा हिंदी भी आज मोरिशस की अपनी भाषा होने की हकदार बनती है।

दिन भर के थके-मांदे भारतीय मज़दूर रात में जब एक जगह पर जुटते तो रामचरितमानस का पाठ करते, भोजपुरी और हिंदी लोक गीत और लोक कथाएं सुन-सुनाकर थकान दूर करते। इस 150 साल की यात्रा में हिंदी मोरिशस के विशेष रंगों से रंगती गई और आज मोरिशस की अपनी एक विशेष हिंदी है जो भारत की हिंदी से भिन्न है। भारत की हिंदी में "एक ठोप पानी" एक कठिन भाषा समझी जाएगी। वहां "एक बूंद पानी कहा जाता है।" जबकि मोरिशस की हिंदी में बूंद की जगह ठोप का इस्तेमाल होता है। इस तरह मोरिशसीय हिंदी की अपनी विशेष पहचान है। यहां आज के हिंदी लेखक जिस हिंदी में लिखते हैं वह भारत की हिंदी न होकर मोरिशस की हिंदी है— ठीक उसी तरह जिस तरह अमरीका की अंग्रेजी इंग्लैंड की न होकर अमरीकी ज़मीन की भाषा है। जब हम अमरीका की अंग्रेजी को अमरीकी ज़मीन की भाषा मान सकते हैं तो फिर क्या कारण है इस स्वतन्त्र देश में शुरू से आज की राजनीतिक अनन्यता के बीच शुरू से आज तक बोली पढ़ी और लिखी जाने वाली भाषा को हम मोरिशस की ज़मीन की भाषा मानने में झिझकते हैं, मोरिशस की हिंदी ने अपने संदर्भ और अपने माहौल से कई शब्द लिये हैं, कई लोकोक्तियों, कई मुहावरों को जन्म दिया है।

"खबोर" शब्द, शायद हिंदी कोष में न मिले लेकिन वह मोरिशसीय हिंदी का अपना एक सशक्त शब्द है। यह खबोर सारा कुछ खा जाएगा— इस तरह के और भी कई शब्द हैं।

इस देश का कोई आदिवासी कभी नहीं रहा। लोग अफ्रीका, भारत, चीन और यूरोप से इधर आए। भोजपुरी, हिंदी, क्रियोली, फ्रेंच, अंग्रेजी मोरिशस में पैदा नहीं हुई। ये भाषाएं यहां आने वाले लोगों के द्वारा बोली गईं और विकसित होती गयीं। अंग्रेजी और फ्रेंच काफी हद तक यहां के मालिकों और सामन्तों की भाषाएं थीं लेकिन क्रिओली और भोजपुरी की तरह हिंदी शुरू से आम आदमी की ज़बान थी और आज भी है। हिंदी हर गरीब घर में बोली-पढ़ी और समझी जाती थी। धनी वर्ग इस भाषा से कतराते थे। आज भी हिंदी मोरिशस के किसी भी महल में नहीं बोली जाती। वह छोटे घरों में बोली जाती है। यह आम आदमी की भाषा नहीं होती तो कुटियों, खेतों और बैठकों से विकसित नहीं होती बल्कि बड़े-बड़े कालेजों में इसका विकास होता। शुरू से यह संघर्ष की भाषा रही है, पूजा-पाठ और सांस्कृतिक आयोजनों की भाषा रही है। यहां तक की मिट्टी से सन कर मोरिशसीय भाषा का रूप लेती गई।

150 साल पहले जब मोरिशस में बच्चों को हिंदी पढ़ाई जाती थी उस समय वे ज़मीन पर बैठते थे और लकड़ी की पट्टी पर लिखते-पढ़ते थे। वे अधनंगे बच्चे थे। रोटी और कपड़ों के मुहताज मज़दूरों के बच्चे थे जबकि मालिकों और सामन्त वर्ग के बच्चे अंग्रेजी, फ्रेंच पढ़ रहे थे बड़े-बड़े कालेजों और भव्य इमारतों में समय के साथ अंग्रेजी फ्रेंच पढ़ने वाले सरकार में बड़े-बड़े ओहदे पाते गए जबकि हिंदी वाले बहिष्कृत रहे काफी लम्बे अरसे तक। टाई और सूटधारी अंग्रेजीदां और फ्रेंच से अलग हिंदी पढ़े-लिखे गंवार समझे जाते रहे। इतिहास गवाह है कि हिंदी और भोजपुरी बोलने वाले को "बाया कात्रकोको" "मालबार बितास्यों" कहा जाता था। इस अपमान से कई लोगों ने दुखी होकर भोजपुरी और हिंदी बोलना बन्द कर दिया। धर्म परिवर्तन इस देश के इतिहास का एक अलग

अध्याय है। बेबसी और नौकरी की चाह में धर्म परिवर्तन के बाद हजारों लोगों को हिंदी से काट दिया गया। लेकिन इसके बावजूद हिंदी मरी नहीं। इन तमाम औपनिवेशिक मनोवृतियों का शिकार होकर भी हिंदी जन-जीवन के बीच जीवित रही।

शुरू से आज तक मोरिशस के खेतों-गांवों और गरीबों के बीच फल-फूल कर यहां के रस्म-रिवाजों के साथ जुड़ कर, यहां की आबोहवा से मिलकर अगर हिंदी मोरिशस की अपनी भाषा कहलाने का हकदार नहीं तो फिर यह हक न तो क्रिओली को पहुचता है और न ही भोजपुरी को क्योंकि इन तीनों अभिव्यक्तियों ने एक ऐसी स्थिति और परिस्थितियों का सामना इस मुल्क में किया है। आज विसंस्कृतिकरण के दलाल जब हिंदी को सामंती और विदेशी भाषा करार दे रहे हैं वहां हम केवल इतना चाहेंगे कि हमारा तकाजा हिंदी के लिए गद्दी नहीं है, हम केवल यह चाहते हैं कि उसको इस देश में उसका सही स्थान मिले। उसे न तो थोपी हुई भाषा कहा जा सकता है ना ही विदेशी भाषा और ना ही सामन्ती। जिस भाषा ने आज से पैंतालीस वर्ष पहले आजादी का गीत गाना शुरू किया हो वह तो क्रान्ति की भाषा हुई। मैंने उस समय के उन तमाम युवाओं के साथ बैठकों में यह गीत सीखा था। "हम रण मतवारे सैनिक है सूर समरागन में जाएगे।" "झंडा ऊंचा रहे हमारा" यह गीत भी मैंने हजारों साथियों के साथ 40 वर्ष पहले मोरिशस में छपी हिंदी की छोटी-सी पाठ्य पुस्तक में पढ़ा था।

जब पंडित वासुदेव विष्णुदयाल का जन-आंदोलन शुरू हुआ उस समय घर-घर लोग भोजपुरी और हिन्दी बोलते थे। उसी समय से हिन्दी की बढ़ती हुई तेज रफ्तार को रोकने के लिए ब्रिटिश व्यवस्था ने तरीके अपनाने शुरू कर दिये थे। पंडित जी के साथ-साथ हिन्दी को भी विद्रोहियों की अभिव्यक्ति साबित किया गया। फ्रांसीसी अत्याचार के जमाने में भी हिन्दी वालों के साथ सख्ती से पेश आया जाता था। मुझे अपने बाप का यह वाक्य याद है जो हिन्दी पढ़ते समय उसने अपने बाप से सीखा था...डरो नही हिन्दी पढ़ो देश के हित आगे बढ़ो।" उस समय लोग हस्तलिखित पुस्तकों से हिन्दी पढ़ते और पढ़ाते थे।

बहुत पहले से अंग्रेजी और फ्रेंच में नाट्य प्रतियोगिताएं होती थीं। जो लोकप्रिय होता है और जनता का होता है वह सामन्ती नही हो सकता। इधर कुछ वर्षो से यह नाट्य प्रतियोगिता हिंदी में भी होने लगी है। इसमें द्वीप भर के युवा-क्लब भाग लेते हैं। अंग्रेजी फ्रेंच कुल मिलाकर हर वर्ष 15-20 युवा-क्लब इसमें भाग लेते रहे हैं जिनका मतलब हुआ 15-20 नाटक, जबकि हिंदी के लिए हर वर्ष इस प्रतियोगिता में 70-75 नाटक आते रहे है याने कि 75 क्लबों की इसमें हर साल सक्रियता रही। जिस भाषा में इतने नौजवान रुचि लें उस भाषा को एक आम आदमी के हित की नीति पर विश्वास करने वाली व्यवस्था कन्नी कैसे काट सकती है; मोरिशस की हिंदी तो युवाओं की भाषा है

इधर कुछ दिन पहले स्थानीय टेलीविजन की ओर से हिंदी गानों की प्रतियोगिता चल रही थी जिसमें इतने लोग भाग ले रहे थे जितने लोगों ने हमारे टेलिविजन के इतिहास में किसी भी भाषा के लिए कभी लिया ही नहीं; क्या इस सत्य को भी नकारा जा सकता है कि इस देश का पहला नाट्य आंदोलन हिंदी में हुआ था। आज "नाटक" शब्द तो मोरिशस के पूरे नाट्य आंदोलन की परिभाषा है। हिंदी में उस समय नाटक अपनी पराकाष्ठा पर था। हिंदी में हजारों लोगों के बीच रामलीला होती थी, राजा हरिश्चंद्र जैसा नाटक होता था जिसमें राजा आम आदमी का जीवन व्यतीत करके अपने धर्म की रक्षा करता है। आज जब जानकारी के अभाव में कुछ लोग हिंदी को सामन्ती और विदेशी भाषा कह जाते हैं तो दुख होता है। हिंदी तो सौ साल पहले से आम आदमी की पीड़ा व्यक्त करने वाली भाषा रही है। हुकूमत के अत्याचारों को नकारने वाली अभिव्यक्ति रही है।

रेडियो पर हिंदी गीतों के लिए जितनी फरमाइश होती है वह भी अपने आप में बेमिसाल है। हिंदी फिल्में मोरिशस में जब इतनी लोकप्रिय हो सकती हैं तो भाषा के अजनबीपन के कारण नहीं बल्कि उसके अपनेपन के कारण।

मोरशस में फ्रेंच और अंग्रेजी को शुरू से आज तक सुविधाएं प्राप्त होती रही हैं। अगर ये ही सुविधाएं हिंदी को भी प्राप्त होतीं तो आज यह भाषा अपनी इस हैसियत से और आगे होती लेकिन पूंजीपतियों ने इस भाषा को हर वक्त तीसरे दर्जे को लोगों की भाषा मानकर इसे कुचला है। हिंदी भारत में भी आम आदमी की भाषा रही है। वर्षों पहले जब तुलसी दास ने भारत के सामन्तो की परवाह किए बिना हिंदी को आम आदमी की भाषा मान कर इसमें रामचरित मानस लिखी तो सामन्तों ने इसे गंवारों की भाषा कहा था इसलिए कि हिंदी एक सरल भाषा रही है। कोई अवधि को हिंदी न माने तो फिर दूसरी बात है। न तो उसका उच्चारण कठिन रहा है न उसका व्याकरण। भाषा विशेषज्ञों का दावा है कि इसे तीस दिन के अध्ययन के बाद कोई भी व्यक्ति आसानी से बोल-समझ सकता है। ऐसी भाषा को यहां के राजनीतिक चिलम भरवे सामन्तों की भाषा कह रहे हैं। यह आम आदमी का अपमान है। कुछ लोग हिंदी को थोपे जाने वाली भाषा कह देते हैं। अगर यह थोपे जाने वाली भाषा होती तो बिन किसी नौकरी की उम्मीद के हर गांवों में हजारों की संख्या में लोग इसे पढ़ते-पढ़ाते ही नहीं। हिंदी पढ़कर सरकार में कोई मान्यता नहीं मिलती फिर भी लोग इसे इतनी निष्ठा के साथ क्यों पढ़ते रहे।

अतीत में कुछ राजनेताओं ने इस भाषा को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल जरूर किया है। हर वर्ष बैठकों में जा-जाकर वार्षिकोत्सव में दस-बीस भोले-भाले लोगों को फांसने की कोशिश

जरूर की है। अपना उल्लू सीधा करने के लिए हिंदी की झूठ-मूठ की दुहाई दी जाती थी। सही बात तो यह रही कि हिंदी को कभी भी राजनीति का सहयोग नहीं मिला बल्कि वोट हड़पने का उसे एक साधन बनाया गया।

हिंदी सिर्फ पूर्वजों की भाषा नहीं हैं। वह आज की भाषा है आज के मोरिशस लोगों की भाषा है, नौजवानों की भाषा है तभी तो आजादी के बाद इस भाषा में मोरिशस के लेखकों ने 185 पुस्तकें लिखी हैं। मोरिशस की किसी भी दूसरी भाषा में आजादी के बाद इतनी पुस्तकें नहीं लिखी गयीं। यह प्रमाण है कि यह भाषा कितनी जीवन्त है, फिर भी हिन्दी साहित्य की चर्चा सामन्त वर्ग के बीच कभी नहीं होती जबकि मोरिशस के हिंदी साहित्य ने इस देश के साहित्य को समृद्ध करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। यही नहीं कल अगर मोरिशस के हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन हुआ तो पता चलेगा कि इस साहित्य ने हर वक्त आम आदमी की आवाज बुलन्द की है, व्यवस्था के खिलाफ और समाज के कल्याण के लिए आवाज उठाई है। मोरिशस की हिंदी कहानियां, कविताएं, नाटक और उपन्यास हर वक्त जन-जीवन के साथ जुड़े रहे हैं। इसीलिए तो पिछले वर्षों में कई बार कई हिंदी नाटकों को सेंसर ने अस्वीकार दिया। इन बातों की चर्चा नहीं होती, यह एक दूसरी पूंजीपति साजिश है। शुरू से हिंदी के सभी कवियों ने मजदूरों, गरीबों, पद्दलितों और शोषितों की समस्याओं को अपनी रचना में उठाया है। चाहे ब्रजेन्द्र भगत रहा हो चाहे सोमदत्त बखोरी चाहे रामदेव धुरन्धर या पूजानन्द नेमा, चाहे सिबरय रहा हो चाहे मुकेश जीबोध- इन सभी की रचनाएं सर्वहारा वर्ग के अधिकारों की रचनाएं रही हैं। "हां," यह दूसरी बात है कि कुछ चाटुकारों ने अपने स्वार्थ के लिए चारणों की तरह सत्ता और राजनेताओं की स्तुति भी की है पर यह तो फ्रेंच अंग्रेजी और क्रिओली मे भी हुआ है। इस एक-दो किराये के लेखकों के कारण एक पूरे साहित्य को नकारा नहीं जा सकता।

आज हिंदी के जरिए मोरिशस का साहित्य विश्व के कई देशों में पढ़ा जा रहा है। रूस, जापान, इंग्लैंड फ्रांस, जर्मनी तथा और भी कई देशों में मोरिशस के हिंदी साहित्य के अनुवाद के बल पर मोरिशसीय साहित्य को प्रतिष्ठा मिली है। मोरिशस में हिंदी के महत्व को कम करने का अर्थ होगा... 150 साल के इतिहास को मिटा देना। गांवों की अभिव्यक्ति को कुचल देना। गरीबों की भाषा को मसल देना। मोरिशस के साहित्य को विकलांग कर देना। इतिहास के बलिदान और त्याग को भुला देना, आजादी प्राप्त में हिंदी के सहयोग को नकार देना। देश भर की बैठकों को जला देना। गुरुओं और पंडितों को नंगा कर देना। संजोई संस्कृति को मटियामेट कर देना, अस्मिता को मिटा देना।

मोरिशस में हिंदी हमेशा आम आदमी की भाषा रही है। ये वो लोग थे जिनके पास कालेज जाने लिए पैसे नहीं थे। आज जितने हिंदी अध्यापक हैं सभी मजदूर रह चुके हैं, खेतों में खून-पसीना एक करके वे लोग समय मिलने पर स्वाध्याय करते रहे और त्याग-बलिदान के बाद ही ये लोग हिंदी अध्यापक बन पाये। हम यहां उन एक-दो राजनीतिक हिनयुक्तियों की बात नहीं कर रहे।

खेतों की भाषा हमेशा भोजपुरी और हिंदी रही है। लोग काम करते हुए आपस में भोजपुरी बोलते हैं, पर गाने हिंदी में गुनगुनाते हैं। आज भी खेतों के मजदूरों के हाथ में हिंदी के उपन्यास और हिन्दी पत्रिकाएं होती हैं। जिन्हें वे लोग समय मिलने पर पढ़ते रहते हैं। मोरिशस भर में 900 से ऊपर हिन्दी बैठकें हैं जो आम आदमी के सहयोग से चलती हैं, जिनमें 2000 से अधिक लोग 3 लाख से ज्यादा विद्यार्थियों को निशुल्क हिंदी पढ़ाते हैं।

देश भर में कोई 2000 आम आदमी गायक हैं जो शादी ब्याह और उत्सव त्यौहारों में महफिल के बीच हिन्दी गाने गाते हैं।

मोरिशस में कोई 200 युवा क्लब हैं जो हिन्दी नाटक की तैयारी करते हैं। 150 रंगकर्मी, 1000 के करीब कलाकारों के साथ नाट्य प्रतियोगिता में भाग लेते हैं।

सैकड़ों लेखक हिंदी में आम आदमी के कल्याण हेतु अपनी अभिव्यक्ति कर रहे हैं, जब भी खेतों के मजदूरों के बीच आंदोलन हुए है उन्होंने अपने अधिकारों के गीत हिन्दी में गाये हैं। मजदूरों पर जब गोलियां चली थीं उस समय भी हिंदी गानों के द्वारा अधिकार की मांग की जा रही थी।

1976 में इन्दिरा गांधी जी की सरकार के सहयोग से आयोजित द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के दौरान मोरिशस पूरे विश्व के लिए एक सांस्कृतिक पुल बना था। मोरिशस हिंदी का विश्व मंच था और आज भी है।

हर रविवार को फनोक, रोज़बेल, त्रिओले, गूडलेण्डस, रीव्ये जी रांपार पोर्टलुई, वाक्वा जैसे कई स्थानों में प्रारंभिक और माध्यमिक दोनों स्तरों पर हिंदी की निशुल्क पढ़ाई होती है आम आदमी द्वारा आम आदमी के लिए। इन स्थानों पर 500 से 1000 तक विद्यार्थी पढ़ते हैं।

हिन्दी कभी भी प्रशस्ति और चमचागिरी की भाषा नहीं रही। इस भाषा में लिखी एक दो चारणों की किताबों को छोड़कर पूरा साहित्य आम आदमी के लिए एक बेहतर जीवन की मांग का साहित्य है।

आज इस देश में सरकार की भाषा नीति बड़ी अजीबों-गरीब दीख रही है। जहां क्रिओली के प्रचार से फ्रेंच को समृद्ध करने का प्रयत्न हो रहा है कहीं भोजपुरी की दुहाई सिर्फ इसलिए दी जा रही है ताकि वह हिंदी का स्थान ले ले। कल तक भोजपुरी हिंदी की सहोदरी भाषा थी, आज वह विभाजन का

(शेष पृष्ठ 23 पर)

फीजी में हिन्दी

—ब्रह्मदत्त स्नातक

फ़िजी द्वीप समूह के लगभग 200 टापुओं में रहने वाले 50 प्र० श० से भी अधिक भारतवंशी, चाहे भारत के, किसी भी प्रदेश से आए हों, उनके पूर्वजों की मातृभाषा कुछ भी रही हो, आज उन सबके घरों में हिन्दी बोली जाती है। सांस्कृतिक विरासत के नाम पर चाहे संगम के स्कूलों में तमिल, आंध्र सगम के स्कूलों में तेलुगु, मुस्लिम स्कूलों में उर्दू या अरबी, पंजाबी स्कूलों में पजाबी तथा गुजराती स्कूलों में गुजराती को अतिरिक्त रूप से पढ़ाने की व्यवस्था है, रेडियो पर भी प्रादेशिकता या मजहब के नाम पर पृथक् प्रोग्राम प्रसारित किए जाते हैं, परन्तु एकमात्र हिन्दी-हिन्दुस्तानी की कक्षाए तथा प्रसारण सबके लिए सुगम है। इसके अतिरिक्त हिन्दी के फिल्मी गाने तथा धार्मिक भजन न केवल भारत वशी फिजियनों में अपितु काईबीती भाई-बहनों में भी बहुत लोकप्रिय हैं। यदि सूवा जैसे शहरों में रहने वालों नागरिकों की बातचीत में तथा सभा-भाषणो में प्रयुक्त होने वाले अंग्रेजी के प्रयोग को अपवाद मान लें, और देश के जनमानस तथा लोकव्यवहार को देखें तो पता चलता है कि हिंदी-हिन्दुस्तानी न केवल भारतवंशियों की भाषा है, अपितु दूर-दराज देहात तथा छोटे कस्बों नगरों में रहने वाले समस्त फिजी निवासियों के बीच सम्पर्क की एक सशक्त भाषा है।

फ़िजी में हिन्दी का एक तो साहित्यिक स्वरूप है जिसका दर्शन हमें फिजी रेडियो द्वारा होने वाले प्रसारणों, समाचारपत्रों में प्रयुक्त होने वाली भाषा तथा सभा सोसाइटियों में यदा-कदा प्रयुक्त होने वाले भाषणों के द्वारा मिलता है। इसका दूसरा व्यापक स्वरूप बोलचाल की भाषा के रूप में हम फिजी में देखते हैं। इसमें अपभ्रंशों की अधिकता, लिंग-वचन की भाषा मे शिथिलता तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश की अवधी और बिहार की भोजपुरी, मंगही तथा बंगला भाषाओं का मेल देखने को मिलता है। इस संपर्क भाषा में दक्षिणी भाषाओं के शब्द भी स्थान पा गए। इस प्रकार के फिजी हिन्दी के नियमों तथा उदाहरणों का संकलन अब तक किसी भारतवंशी अथवा भारतीय अथवा हिन्दी भाषी ने किया।

यह प्रसन्नता की बात है कि जेफ़सीगल तथा रोडने एफ० मोग नामक दो विदेशी विद्वानों ने अंग्रेजी के माध्यम से क्रमशः से 'इट इन फिजी हिन्दी' एव फिजी हिन्दी पुस्तकें लिखकर यह काम किया हैं। फिजी में भारतीय मूल के नागरिक पिछली एक शताब्दी से ज्यादा समय से साहित्यिक तथा फिजी हिंदी में गीत,

भारत दिवस आज भी फिजी के भारतवंशी मानते है। पिछले इस अवसर पर झांसी की रानी नाटक भी खेला गया।

चौताल, फाग, कविता, कहानी, उपन्यास लिखते रहे हैं। प्रसारण व समाचारपत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी यह काम सतत क्रम से चल रहा है। ये सभी अभिनन्दनीय हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक, सांस्कृतिक, तथा सार्वजनिक मंचों पर हिन्दी का अधिकाधिक उपयोग किया जाय, तथा फिजी संविधान ने सीनेट में हिन्दी में भाषण देने की जो अनुमति दे रखी हैं और प्रशासन में हिन्दी के उपयोग को चला रखा है, उसे बल प्रदान किया जाय।

—पोस्ट बाक्स 165 लौतोका, फिजी साऊस पैसेधिक

(पृष्ठ 22 का शेषांश)

माध्यम बनायी जा रही है। वास्तविकता तो यह है कि क्रिओली और फ्रेंच की गाड़ी पटरी से गुजरने वाली है और भोजपुरी के हाथ में हरा झंडा थमा दिया गया है ताकि वह झंडे दिखाकर क्रिओली की अगवानी में फ्रेंच को आसानी से आगे निकल जाने दें। और फिर भोजपुरी की भूमिका समाप्त! अगर हिंदी वाले इस सुगर-कोटड साजिश में आ गये तो कुछ ही दिनों मे हिंदी और भोजपुरी की अभिव्यक्ति न रह कर अजायबघर की चीज बनकर रह जायेगी....अतीत की चीज।

मोरिशस मे अंग्रेजी जहां नौकरी रोटी-रोजी और प्रतिष्ठा जहां की भाषा रही है वहां हिंदी प्यार की, आंदोलन की- पहचान की संस्कृति की, त्याग और श्रम की भाषा रही है। आम आदमी की यातनाओं का वह अनलिखा इतिहास रही है। सिंड्रेला और सोभिया की गाय रहकर भी जिस हिंदी ने अपने को मोरिशस की जमीन पर इतनी सशक्त प्रमाणित किया आज उसे मटियामेट करने के उपाय सोचे जा रहे हैं।

—महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट, पोर्टलुई, मारीशस

आत्म-तत्व की अनवरत खोज

आज पं० इलाचन्द्र जोशी नहीं रहे, पर उनका साहित्य सदा अमर रहेगा और ऐसे मनीषी साहित्यकार की याद दिलाता रहेगा जो अपनी कथा-कृतियों और उनमें चित्रित पात्रों के माध्यम से अवचेतन की गहराइयों में उतरते हुए अपने को पहचानने की अनवरत साधना में लीन रहा।

जोशी जी का विश्वास था कि आज विश्व में जो उथल-पुथल मची हुई है, उसका मूल कारण यही है कि हम अपने अन्तर्जीवन की पूर्ण उपेक्षा करके बाह्य जीवन को ही सब कुछ समझ बैठे हैं। परिणामस्वरूप हम अपनी जीवनगत समस्याओं का वास्तविक रूप नहीं समझ पाते और उनके समाधान के लिए जो उपचार अपनाते हैं, वे भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। उन्होंने जीवन में घटित होने वाली विशेष घटनाओं को अपने पात्रों के जीवन-सूत्र में पिरोकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि व्यक्ति जो दिखता है वह वही नहीं है। उसके बाहरी रूप के भीतर कितना परतों के नीचे उसका असली रूप छिपा रहता है और यदि दैनिक-जीवन की तुच्छता का पर्दा हटाकर साधारण से साधारण व्यक्ति के भीतर की एक भी झलक पा सकें तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहे।

अपने उपन्यासों में जोशी जी ने इस तथ्य को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया कि व्यक्ति के जीवन मे जो भी घटित होता है, वह अकारण भाग्यवश नहीं घटित होता, उसके बीज पहले से ही व्यक्ति-मानस में छिपे रहते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बताने की कोशिश की कि जीवन की छोटी-से-छोटी घटना भी उपेक्षणीय नहीं है। बड़ी-बड़ी बातों से तो मनुष्य की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है, पर छोटी-छोटी बातें ही उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश में लाती हैं। इन्हीं छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने से जीवन के बड़े-बड़े महत्वपूर्ण, किन्तु उलझे हुए रहस्य सुलझते चले जाते हैं।

जोशी जी ने जिस उद्देश्य से अपने उपन्यासों की रचना की, उसके लिए ऐसे पात्रों की आवश्यकता न थी जो देव-तुल्य चारित्रिक निष्ठा वाले दृढ़ पुरुष हो, क्योंकि वे जानते थे कि देवता बनकर पूजा पा जाना आसान है, पर मनुष्य बनकर जीना कठिन है। उन्हें तो ऐसे पात्र चाहिए थे जो मनुष्य हों, जिनमें मनुष्य की सभी कमज़ोरियां हों और जो स्वभाव से इतने ढुलमुल और संवेदनशील हों कि छोटी-से-छोटी घटना भी उनके चेतन को चीर कर अचेतन में एक ग्रंथि बनकर गहरी धंस जाए और वहीं से उनके आचार-विचार और व्यवहार को निरन्तर प्रभावित करती हुई किसी भी परिस्थिति से उनका मेल न बैठने दे। जोशी जी के सभी पात्रों के मन में कोई न कोई ऐसी गांठ पड़ जाती है जो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक विराट् परिवर्तन लाकर उन्हें जीवन-भर बेपैंदे का लोटा बनाए रखती है। 'पर्दे की रानी' की नायिका निरंजना की ग्रंथि यह कि वह कभी अचेतन में भी भूल नहीं पाती कि वह एक वेश्या मां और खूनी बाप की बेटी है। 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ के अचेतन में यह बात एक ग्रंथि के रूप में धंसी हुई है कि उसकी मां वास्तव में व्याभिचारिणी है और वह उसकी जारज सन्तान है।

ऐसे व्यक्तियों को जो बाहर कुछ हों तथा भीतर कुछ और, ठीक-ठीक समझ सकना कोई सरल काम नहीं। उनकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप को प्रकाश में लाने के लिए, उनकी मानसिक ग्रथियों को उघाड़ने के लिए, जोशी जी को ऐसे पात्रों की आवश्यकता पड़ी जो मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से परिचित हों और मनोविश्लेषक की-सी दक्षता से उन पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण द्वारा, उनके अचेतन में व्याप्त दुखद-अनुभूतियों की समुचित व्याख्या द्वारा उन्हें सह्य बना सके। 'पर्दे की रानी' के गुरुजी, 'जिप्सी' का नायक रंजन, 'निर्वासित' का महीप आदि न्यूनाधिक रूप में मनोविश्लेषक का काम करते हैं।

जोशी जी के पात्र जीवन-भर संघर्ष करते रहते हैं। उन्हें यह संघर्ष उतना अपने बाहर की शक्तियों से नहीं करना पड़ता जितना भीतर की प्रवृत्तियों से करना होता है। द्वन्द्व उनके जीवन का एक अनिवार्य अंग बन जाता है, पर द्वन्द्व उन्हें किसी दूसरे से नहीं, अपने से ही करना पड़ता है। परिणामतः वे

डा० रणवीर रांग्रा

यातनाओं की भट्टी में तिल-तिल करके जलते रहते हैं। जीवन भर वे इतने व्यग्र रहते है कि क्षण भर के लिए भी उन्हें चैन नहीं मिलता। उनकी समस्या यह है कि सामर्थ्य और साधन होते हुए भी वे वह नहीं कर पाते जो करना चाहते हैं, और जो नहीं करना चाहते वह उनसे बरबस हो जाता है। आरम्भ से ही जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक ऐसी विकृति आ जाती है जो किसी भी परिस्थिति से उनका संतुलन नहीं बैठने देती और उत्तरोत्तर बेचैन किए रखती है।

'पर्दे की रानी' की निरंजना के हृदय में शीला के प्रति सच्ची ममता वर्तमान है, फिर भी वह उसके सर्वनाश के लिए तुली रहती है। वह नहीं चाहती कि शीला के पति को हथिया कर शीला के सर्वनाश का कारण बने। पर जो वह करना नहीं चाहती वही उससे होता चला जाता है। अपने स्वभाव की इस विचित्रता पर उसे स्वयं आश्चर्य है। जब तक उसका चेतन मन यह भूला रहता है कि वह एक वेश्य माता और खूनी पिता की संतान है, तब तक तो वह ठीक रहती हैं, पर ज्यों ही यह विचार किसी बहाने से उसके मन की ऊपरी सतह पर आ पहुंचता है, उसका सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकम्प के-से आन्दोलन से अस्त-व्यस्त हो जाता है और उसके मन में तत्काल यह राक्षसी

इच्छा जाग उठती है कि वह किसी को काट खाए। इसी प्रकार 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ न तो जीवन भर स्वयं किसी नारी को समर्पित हो पाता है और न ही किसी दूसरे के समर्पण को स्वीकार कर पाता है। उसके मन में यह बात कुंडली मार कर बैठी हुई है कि उसकी मां व्यभिचारिणी है और वह उसकी जारज संतान है। जब तक यह बात उसे याद नहीं रहती, वह किसी भी नारी के जीवन से बड़ी तेजी के साथ उलझता जाता है, पर ज्यों ही यह बात उसके चेतन में उभर आती है, वह उस नारी में अपनी व्यभिचारिणी मां की प्रतिच्छाया पा, उससे पीछा छुड़ा कर भाग निकलता है। जीवन-भर वह एक-से-दूसरी और दूसरी-से-तीसरी नारी की ओर भटकता रहता है और उसका भटकना तब तक नहीं रुकता जब तक कि उसका पिता मरने से पहले उसके सम्मुख यह प्रमाणित नहीं कर जाता कि उसकी मां व्यभिचारिणी न होकर जीवन-भर पतिव्रता ही रही थी।

जोशी जी के उपन्यास "ऋतुचक्र' में कई नवीन और अछूती समस्याओं का विश्लेषण मिलता है। उदाहरणार्थ, आधुनिक युवक-युवतियों में व्याप्त संदेह और संत्रास की शल्य-क्रिया, मनुष्य के सामूहिक अवचेतन के केन्द्रीय परमाणु के विस्फोट की कल्पना, प्रौढ़ों का अनासक्ति-काम, उन्मुक्त प्रकृति के सान्निध्य में विचार-मुक्ति इत्यादि। परम्परा से थोड़ा हटकर उन्होंने इस उपन्यास में जन्मान्तरवाद की जो व्याख्या की है वह भी अपेक्षाकृत वैज्ञानिक है। उसके प्रकाश में यह समझने में दिक्कत नहीं होती कि जीवन की अटूट गति को महाचेतना से सहज और सीधा सम्बन्ध जुड़ जाने के बाद व्यक्ति जीवन और मृत्यु के बीच किसी खाई को नहीं मानता। जीवन की महाचेतना से सहज और सीधा सम्बन्ध जुड़ जाने पर व्यक्ति मृत्यु के प्रति तो निडर हो ही जाता है, जीवन की विकट से विकट परिस्थितियों के प्रति भी वह निर्भय बना रहता है। ऐसी स्थिति में पलायन न वह मृत्यु से करेगा और न जीवन से ही। वह न तो मृत्यु से घबराकर किसी से जीवन की भीख मांगेगा और न जीवन से घबराकर स्वेच्छा से मृत्यु का ही वरण अर्थात् आत्महत्या करेगा, क्योंकि इस स्वस्थ अनुभूति के बाद व्यक्ति अच्छी तरह जान जाता है कि जिस प्रकार मृत्यु जीवन की अखंड धारा को नहीं काट सकती, उसी प्रकार आत्महत्या करके व्यक्ति उस अखंड धारा से कट अथवा बच नहीं सकता। ऐसी अनुभूति के बाद तो जीवन से जूझने की प्रवृत्ति होनी चाहिए, पर जोशी जी के उपन्यास 'ऋतुचक्र' की चित्रा इस प्रकार की अनुभूति में से गुजर चुकने पर भी आत्महत्या से गुरेज नहीं करती।

एक बार जोशी जी के सम्मुख 'ऋतुचक्र' के इस अंतर्विरोध को रखा तो वे बोले, 'आपकी यह बात सटीक है कि आत्महत्या करके व्यक्ति जीवन की अखंड धारा से कट अथवा बच नहीं सकता। मैंने स्वयं भी इसी तरह की बात 'ऋतुचक्र' में कई बार भिन्न-भिन्न प्रसंगों में दुहराई है। चित्रा की आत्महत्या के पीछे कोई बड़ा सैद्धांतिक प्रश्न नहीं है। बड़े से बड़ा अनुभूतिवाला व्यक्ति भी जीवन के छोटे-छोटे 'पिन-प्रिक्स' के नैरन्तर्य से तंग आकर घबरा उठता है और बड़े से बड़े संकटों को भी हंसकर झेल लिए जाने की शक्ति अपने में पाता है। जीवन के पिन-प्रिक्स के प्रति ही चित्रा का विद्रोह है। एक बड़े से बड़ा हाथी भी चींटियों द्वारा तंग किए जाने पर अपने को असहाय महसूस करने लगता है। किसी बहुत बड़े भारतीय मनीषी ने कहा है कि मनुष्य के मन में शक्ति का बहुत बड़ा रिज़र्वायर है जिसके बल से वह बड़े से बड़े और भयंकर से भयंकर संकटों का सामना कर सकने में अपने को पूर्णतः समर्थ पाता है, पर स्थिति का यह क्रूर व्यंग उसके साथ चिपका हुआ है कि जीवन के छोटे-छोटे 'पिन-प्रिक्स' उसकी सारी मानसिकता को विकृत बनाकर, उलट कर रख देते हैं और तब उस अवस्था में उसकी अपनी फिलासफी के महान सिद्धांत उसे तनिक भी सहायता दे सकने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। इसी घोर क्रूर यथार्थ को ध्यान में रखते हुए चित्रा की आत्महत्या का विचार करें तो सारी स्थिति सुस्पष्ट हो हो जाएगी।'

जोशी जी पर कुछ आलोचकों का आरोप है कि उन्होंने अपने पात्रों को मनोवैज्ञानिक सांचे में ढाला है और उनके कथानक पहले से गढ़ी-गढ़ाई, सुनी-सुनाई अथवा बनी-बनाई 'केस हिस्ट्रीज पर आधारित है। पर इस आरोप को उन्होंने स्पष्ट रूप से नकारा है।' मेरे उपन्यासों में जितने भी पात्रों का चित्रण हुआ है उनमें से अधिकांश मेरे अनुभवों की परिधि से होकर गुजरे हैं। इसका कारण शायद यह रहा है कि मानवीय अवचेतना के वैविध्यपूर्ण रहस्यों की खोज मुझे नवयोवन के प्रारम्भ से ही अभीष्ट थी। अभीष्ट इसलिए थी कि स्वयं जन्म से ही 'एब्नार्मल' रहा हूं और इसी कारण अभी अवचेतना के अनेक स्तरों में निहित अद्भुत और साधारणतः अविश्वसनीय रहस्य-जालों में मुझे कई वर्षों तक उलझते रहना पड़ा है। पर उन नाना उलझनों से घिरे रहने पर भी मैं घबराया नहीं हूं, वरन् अपनी किसी रहस्यमयी जन्मजात प्रेरणा से मैं अपने विवेक को अधिकाधिक पुष्ट करने और अधिक से अधिकतर पैना बनाने के प्रयासों में आरम्भ से ही जुटा रहा हूं। अपने अन्तर की जटिल मनोवैज्ञानिक उलझनों को मैं अपने अन्तर्व्यक्तित्व की यथार्थता की मूल पृष्ठ भूमि मान कर चला हूं। मेरे विवेक ने मुझे यह समझाया है कि उन उलझनों से घबराने या कतराने से कोई लाभ नहीं हो सकता है और उनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उनसे क्षुब्ध होना, खीझना या आत्म-विद्रोह करना उनसे मुक्ति का उपाय कभी नहीं हो सकता। मुझे लगा कि सही रास्ता यही हो सकता है कि निर्मम होकर अपनी एक-एक उलझन का विश्लेषण करके, उसके वास्तविक रूप को समझूं और अलग-अलग उलझनों को उनके अलग-अलग परिप्रेक्ष्य में देखूं—फिर चाहे उस प्रक्रिया में मुझे सौ-सौ नरकों की भट्ठियों में क्यों न तपना पड़े।'

—सी-7/180, नवीन निकेतन, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया,
नई दिल्ली-110016

पंडित इलाचन्द्र जोशी

विष्णुप्रभाकर

सुप्रसिद्ध साहित्यकार और चिंतक श्री इलाचन्द्र जोशी का इलाहाबाद में देहावसान हो गया। वे अस्सी वर्ष के थे। कह सकते हैं कि अच्छी आयु पाई, सम्मान भी पाया। प्रेमचन्द जी के बाद जिन साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य को दिशा दी उनमें वह प्रमुख थे। उन्होंने अनेक उपन्यास लिखे। वे कवि भी थे। अनेक पत्र पत्रिकाओं का सम्पादन भी किया। उनकी मृत्यु से हिन्दी साहित्य की बहुत क्षति हुई है। समाचार की दृष्टि से इतनी सूचना किसी भी व्यक्ति के लिए काफी हो सकती है परन्तु किसी उल्लेखनीय साहित्यकार को पहचानने के लिए क्या इतना काफी है।

सन् 1957 के प्रारंभ की बात है। हम दोनों आकाशवाणी केन्द्र में निदेशक थे। मैं नाटक विभाग में था और वे हिंदी वार्ता विभाग को देखते थे। दोनों एक ही कमरे में बैठते थे। किसी प्रसंग में एक दिन उन्होंने कहा "मित्र, आपने अभी हमें देखा कहां है, देखोगे तो पहचानोगे।"

अब 25 वर्ष बाद भी क्या मैं कह सकता हूं कि मैंने उन्हें देखा पहचाना है? अनेक बार मिला हूं। बहुत बातें की हैं। सुख-दुख, साहित्य, राजनीति व्यक्ति कुछ भी नहीं छूटा। फिर भी क्या सही अर्थों में देख सका? जितना देखता गया उतना ही उलझता गया। उनके लेख पढ़ते हुए कई बार लगा है कि विद्वता का अहंकार फुंकार रहा है। बहुत पढ़ा था उन्होंने। बहुत मंथन किया था अंतर में। उनका ज्ञान, उनकी स्मृति, ईर्ष्या होती है। बहुत छवियां अंकित हैं उनकी मेरे मन पटल पर। सब कहीं अंतर में झांकते हुए। बहिर्मुख है ही नहीं कहीं, पर थोड़ा भी पास जाएं तो देखने को मिलता कि मनुष्य इलाचन्द्र उतना ही निरीह स्नेहिल-सरल और देने को आतुर है।

जीवन के प्रारंभ में जिनको मैंने पढ़ा, उनमें जोशी जी भी थे। पर्दे की रानी और घृणामयी ने जितना निराश किया, सन्यासी में उतना ही बांधा। लेकिन सबसे पहले जिस इलाचंद्र को मैंने जाना था, वह साप्ताहिक "विश्वमित्र" के सम्पादक "जोशीद्वय" में एक थे। बड़ी धाक थी उनकी वेदों के संबंध में, एक विद्वतापूर्ण प्रखर लेखमाला की और सम्पादकीय टिप्पणियों की। लेकिन वह प्रेमचंद जी का विरोध करते हैं यह बात मुझे बहुत व्यथित करती थी। प्रेमचन्द का जो भी विरोध करता, उसके प्रति मेरे मन में सहसा अरूचि पैदा हो जाती। 1947-48 की बात होगी, अचानक वे आकाशवाणी के किसी समारोह में भाग लेने दिल्ली आये। तब साहस करके मैंने पूछ ही लिया—"आप प्रेमचंद का इतना विरोध क्यों करते हैं? उन्होंने मेरी ओर देखा, कुछ सोचा, फिर बोले स्नेह से समझाते हुए धीरे-धीरे—"आपने गलत समझा। मैं प्रेमचन्द का विरोधी नहीं हूं। उनको बड़ा लेखक मानता हू पर कुछ बातों में मत-भेद हैं उनमें। मतभेद का अर्थ विरोधी होना नहीं होता।" मैं देखता रह गया उनकी ओर—लम्बा छरहरा बदन, आंखें कुछ भारी-भारी पर अन्तर्मुखी, चेहरे पर आत्मीयता का भाव, बालों की सुचिक्कण घुंघराली लटें कन्धों को ढकती हुई पीठ पर लहराती सी, भौतिक और आत्मिक दोनों रूपों में आश्वस्त कर दिया मुझे।

मन के अंधकूपों में उतर कर आंतरिक रहस्यों की गुत्थी सुलझाने में वह निपुण रहे हैं इसलिए प्रेमचन्द नहीं दोस्तोवस्की फ्रायड और रवीन्द्रनाथ उनके प्रिय रहे हैं। किसी प्रसंग में चुनौती भरे स्वर में उन्होंने कहा था—"मित्र! मैं कहता हूं कि सब भुला दिये जायेंगे, एक दिन पर दोस्तोवस्की अमर रहेगा। उसके सामने टालस्टाय आदि सब फीके हैं।"

एक मित्र ने उनकी किसी कृति पर शरत के प्रभाव का आरोप लगाया था। शायद, तब उन्होंने फुंकारते हुए उत्तर दिया था—"शरत के मनोविज्ञान का स्तर इतना नीचा है कि वह आज के युग के योजनों आगे बढ़े हुए अत्यन्त गहन, जटिल और व्यापक मनोविज्ञान के ककहरे की स्थिति को भी नहीं पहुंच पाता। वह प्रारम्भिक शैशवीय मनोविज्ञान, साधारण से भाव विज्ञान की श्रेणी से आगे नहीं बढ़ा हुआ है जब शरत के बारे में उनकी यह धारणा थी तो प्रेमचन्द के बारे में क्या हो सकती है। इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है।

उन दिनों चीन के प्रधानमंत्री भारत यात्रा पर थे। प्रसिद्ध रामलीला मैदान में उनके सम्मान में अभिनंदन समारोह का आयोजन किया गया। भीड़ ही भीड़, सारी दिल्ली जैसे वहीं सिमिट आई हो। जोशी जी और मैं दोनों जन समुद्र की तरंगों पर ऊपर नीचे बहते हुए बैठने का स्थान ढूंढ रहे थे। हमें वी० आई० पी० गेट में प्रवेश मिल सकता था पर जोशी जी बोले "मित्र आप समझते नहीं। आओ जनता के बीच में पीछे बैठेंगे किसी तरह स्थान मिला। हम दोनों पालथी मारकर जम गये। उधर मंच पर नेहरू जी ने बोलना शुरू किया, "दिल्ली के वाशिन्दो, भाइयों और बहिनों, हमारे दोस्त चीन के प्रधानमंत्री... कि तभी हमारे पीछे बड़े जोर का धमाका हुआ। शोर उठा "बम फटा, बम। कुछ लोग भागे। मैं भी उठा पर जोशी जी वैसे ही पालथी मारे बैठे रहे और मुझे खींचते हुए बोले, कहां भाग रहे हो मित्र, एक पटाखा ही तो फटा है...। वह बम था न पटाखा पर दो तीन व्यक्ति उससे घायल हो ही गये थे। मैं वापस आकर बैठ गया। नेहरू जी की डांट-फटकार के बाद जन-समूह भी शांत हो गया। कार्यवाही शांति के साथ चलने लगी। समारोह के बाद हम फिर अथाह भीड़ में बहने लगे। मेरा घर पास था, बोला—"जोशी जी, आइए न मेरा घर पास ही है।

बहुत बार आए हैं मेरे घर। बड़ी बहस की है मेरे अग्रज से मनोविज्ञान पर। लेकिन उस दिन बोले "मित्र, आज तो मुझे

आनन्द में बहने दो। फिर किसी दिन आऊंगा।" और देखते-देखते वे भीड़ के रेले के साथ बह गये। उस दिन मैंने आदमियों के बीच आदमी को देखा। विशिष्ट होने की चाह थी ही नहीं उनमें।

फिर ऐसा संयोग हुआ कि मैं आकाशवाणी से अलग हो गया। वे भी अपने आत्मभिमान को अक्षुण रखते हुए इलाहाबाद चले गये। मैं तब तक "आवारा मसीहा" चक्रव्यूह में फंस चुका था और वे शरतचंद्र से मिले ही नहीं थे उनसे साहित्य पर चर्चा भी कर चुके थे। उनकी धारणाओं से मतभेद हो सकता है पर शरत को पहचानने की जितनी समझ मुझे उनसे मिली उतनी शरत के बंगाली प्रशंसकों से भी नहीं। प्रशंसक भक्ति दे सकते हैं, समझ नहीं दे सकते।

जोशी जी के परिवर्ती उपन्यासों "जहाज का पंछी" आदि की उनके प्रारम्भिक विरोधियों ने भी प्रशंसा की है, लेकिन उनके मन में यह भावना निरन्तर बनी रही कि उनका सम्यक मूल्यांकन नहीं हो पाया। एक दिन हम दोनों उनके घर बैठे बातें कर रहे थे कि वे बोले—लोग पूछते हैं आपके पात्र इतने दुर्बल क्यों है? मैंने लिख दिया—युधिष्ठिर दुर्बल नहीं था क्या? शेक्सपीयर का हेमलेट दुर्बल नहीं था क्या? लोग संपूर्ण मनुष्य को क्यों नहीं देखते।"

इसी कारण उनका मन खिन्न होता आ रहा था। मनुष्य को प्यार करने की अपार भूख थी उनमें। हर दृष्टि से आयु में, अनुभव में, वे मुझ से बहुत आगे थे लेकिन एक दिन देखता हूं कि इलाहाबाद में मुझे विदा देने चुपचाप स्टेशन पहुंच गये हैं। मैं हतप्रभ बोल उठा—जोशी जी आप क्यों आये? सहज भाव से सिगरेट का कश खींचते हुए बोले—"मित्र। घूमते-घूमते आया हूं। पास ही तो है घर..."गाड़ी धीरे-धीरे स्टेशन छोड़ रही थी। मेरी तरल दृष्टि भीड़ में सबसे अलग सबसे ऊंचे जोशी जी पर स्थिर थी। मेरी पत्नी धीरे से बोली—"जोशी जी बहुत सीधे हैं।"

सन 1977 में उत्तर प्रदेश की सरकार ने उन्हें पन्द्रह हजार रुपए का पुरस्कार देकर सम्मानित किया। मेरे बधाई देने पर उन्होंने लिखा "असल बात यह है जैसा आप भी अनुभव कर सकते हैं कि यह सम्मान बिल्कुल अवैयक्तिक है। इसके भीतर मानवीय संवेदना तनिक भी नहीं है

पत्र बहुत लम्बा है और बड़ा मार्मिक है। आज के समालोचक भले ही उनकी उपेक्षा करें पर कथा साहित्य में प्रेमचन्द के बाद जिस त्रिगुटी ने कथ्य और शिल्प की नई राहें ढूंढी उनमें जोशी जी प्रमुख हैं। शैशव और कैशोर्य में स्नेह से वंचित रहे, जीवन भर जूझते रहे। कलकत्ता के फुटपाथों पर संघर्ष किया। एक स्वतंत्र लेखक, तेजस्वी सम्पादक, संवेदनशील मित्र और साथी, दूर से जितने आग्रही, पास जाने पर उतने ही सरल। उनकी अन्तर्मुखी आंखें झुकी दिखाई दे सकती हैं पर चुनौती पाकर अन्दर का सघन दर्द जब हुंकार उठता है तो उनके अकाट्य तर्क चकित कर देते हैं। उन्हीं जोशी जी को पिछले तीन सालों से जिस स्थिति में देखा उससे मन को बहुत पीड़ा होती रही। उस बार देखा, भरापूरा कद, गरदन झुकी, आंखें सूजी-सूजी, लटों के बाल खिचड़ी, कई बार चश्मा उतारा, साफ किया, हाथ में सिगरेट थी, उल्टी लगा ली मुंह में ...एकदम बोले "मित्र, मैं तो बेकार किसी का नहीं। क्या लिखूं? क्यों लिखूं? किसके लिए लिखूं? परिवार ने सदा छी: छी: थू-थू किया...

गत वर्ष के आरम्भ में पक्षाघात का फिर आक्रमण हुआ तो स्वयं चलना कठिन हो गया था। स्नायु तंतुओं पर से अधिकार हटता जा रहा था। बातों में अस्पष्टता आ गई थी पर अभी भी एक उपन्यास लिखने की इच्छा थी। पर आयु और रोग दोनों ने षड़यंत्र कर लिया था। क्यों हो रहा है शक्तिशाली इतना अशक्त?

पर क्या यह न लौट पाना, यह भटकन, यह अतृप्ति क्या यही सृजन की कुंजी नहीं है?

—(आकाशवाणी, से साभार)

—818, कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-110006

बंगलोर विश्वविद्यालय का महात्मा गांधी हिंदी पुरस्कार

बंगलोर विश्वविद्यालय प्रतिवर्ष दक्षिण भारतीय हिंदी लेखकों को 1,000 रुपये के महात्मा गांधी हिंदी पुरस्कार से पुरस्कृत करता है। सन् 1982 के लिए यह पुरस्कार डा० पी० आदेश्वर राव को, उनके कविता संग्रह "अतरास" पर दिया जाएगा। डा० आदेश्वर राव एक प्रमुख हिंदी कवि होने के साथ-साथ तेलुगु और हिंदी के एक अच्छे आलोचक भी हैं। सम्प्रति, वे आंध्र विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में रीडर के रूप में कार्य कर रहे हैं।

उपरोक्त सूचना बंगलोर विश्वविद्यालय की एक विज्ञप्ति में दी गई है। इसी विज्ञप्ति में 1983 के पुरस्कार के लिए प्रकाशकों और लेखकों से 1981 से पहले प्रकाशित पुस्तकों की तीन-तीन प्रतियां भेजने का भी अनुरोध किया गया है। प्रतियोगिता के लिए भेजी जाने वाली पुस्तकों के साथ संबंधित लेखक/लेखकों का संक्षिप्त जीवन परिचय होना भी जरूरी है। पुस्तकें, डा० सरगु कृष्णामूर्ति, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बंगलोर विश्वविद्यालय, बंगलोर 560056 के पते पर भेजी जानी चाहिए। पुस्तकें प्राप्त करने की अंतिम तिथि 30-4-83 है।

संपादक

बल्गारियाई कहानी

अल्बेना

योर्दान योव्कोफ

यात्रा के लिए तैयार घोड़ागाड़ी सराय और पनचक्की के बीच सड़क पर खड़ी हो गई। घोड़ागाड़ी में अल्बेना को शहर लाने के लिए दो पुलिस वाले जा रहे थे। औरतों की भगदड़ मची हुई थी, वे कभी सड़क की ओर दौड़तीं या अपने दालान पार कर यह जानने की कोशिश करतीं कि क्या हो रहा है? जल्दबाजी में वे जल्दी से अपने सिरों पर रुमाल बांधतीं या फिर भागमभाग में बालों को कंधों के नीचे ही झूलने देतीं। पनचक्की में जितने भी लोग थे वे सब के सब घोड़ागाड़ी की ओर जाने लगे। जितनी भीड़ उस वक्त वहां जमा हो गई थी उतनी तो बड़े दिन के उत्सव पर भी नहीं थी। अल्बेना का घर, जहां से उसे पकड़ा जाना था, ऊपर पहाड़ी पर दिखाई देता था। भयंकर हत्या की बारदात का चिह्न जैसे मकान की बाहरी बनावट पर अंकित हो गया हो जबकि दूसरे मकानातों की दीवालें नई सफ़ेदी से चमक रही थीं और उनकी खिड़कियां नीले रंग से रंगी हुई थीं। अल्बेना का घर उपेक्षित सा, गदा और जीर्ण सा था जैसे उस पर बिजली गिर चुकी हो। वे दो पुलिस वाले वहां पहुंच गए थे, एक दरवाजे पर खड़ा था और दूसरा खिड़की के पास।" अल्बेना अन्दर थी।

कई बातें, कई छोटी-छोटी घटनाएं, जो दूसरे मौकों पर लोगों के ध्यान में ही न आतीं या भुला दी जातीं अब न सिर्फ पहली बार या दूसरी बार याद की जा रही थीं बल्कि बार बार लोग उन घटनाओं के बारे में बातचीत कर रहे थे। हर कोई यह प्रकट करना चाहता था जैसे उसे पहले ही इसका अंदाजा था या उसने ऐसा महसूस कर लिया था। वहां ऐसे किसान भी थे जो पनचक्की में तीन-चार दिनों से अपनी पारी की प्रतीक्षा में ठहरे हुए थे, इसलिए वे खुद को घटना का विश्वस्त गवाह समझे हुए थे। उनमें से कुछ ने लम्बे ब्यौरों में बताया कि वे कब और कैसे एक दिन बैठे हुए थे, और कैसे उन्होंने पहली बार उस दिन यह बात की थी कि बगुले इस बार बहुत जल्दी आ गए और कैसे उन्होंने फिर खेतों की ओर देखा और बहस करने लगे कि पहले किन वर्षों में उन्होने खेतों को इसी तरह हरा-भरा देखा था और यह कि चारो तरफ बढ़ी और फैली हुई फसल को देख यह जरूरी हो जाता था कि वहां जानवर छोड़ दिए जाएं ताकि वे बाहर की ओर फैली हुई फसल को कुचल डालें, इन बहसों के बाद ही बड़े दिन के लिए अपने घरों की सफाई करती हुई, दीवालों को रंगती हुई औरतें देखकर वे थक से गए थे। उसी वक्त उन्होंने अल्बेना को भी अपने दालान में घूमते देखा था। दूर से ही सही, अल्बेना की चाल और उसके गठे जिस्म को देख कर कोई भी बता सकता था कि वह बला की खूबसूरत थी। परंतु न उस दिन और न उसके अगले दिन ही अल्बेना सराय के निकट झरने की तरफ और न ही पनचक्की में जहां कि उनका पति काम करता था, आई।

अगर कत्ल किया हुआ व्यक्ति उसका पति कोत्सार न होता तो शायद ही किसी ने उसे याद किया होता। वह फूहड़, भद्दा और बिल्कुल साधारण आदमी था जो सिर्फ काम में मशगूल रहता था और चुप रहता था। आटे से लिथड़ा, मशीन की तरह बिना थके वह बोरों को इधर-उधर उठाता रहता। हालांकि वह हर रोज वहीं होता लेकिन लोग उसे मिलते या उसके पास से ऐसे गुजरते जैसे वह कोई जीवित प्राणी न हो बल्कि कोई चीज हो। लोग उससे बात करते भी तो सिर्फ इस आश्चर्य में कि कौवों को आतंकित करने वाले, पुतले जैसे उस आदमी ने अल्बेना जैसी खूबसूरत स्त्री से शादी की थी। वे टिप्पणी करते कि सूअर हमेशा अच्छे सेबों को खा जाता है, परंतु बाद में ऐसा कहना भी बंद कर देते और उसे कभी न छेड़ते। कोत्सार को तो गांव के लोग भुला भी चुके थे। कुछ लोग अब भी याद कहते कि आखिरी दिनों में वह चुप्प और धैर्यवान आदमी गुस्सैल और चिड़चिड़ा हो गया था। उसका एक ही स्वामी था और वह था नाग्यौल जो उस पनचक्की का मालिक था। कोत्सार उसकी बातें सुनता और एक गुलाम की तरह उसका हुक्म बजा लाता। लेकिन हत्या से दो-तीन दिन पहले जो कुछ भी नाग्यौल ऊपर से कहता तो कोत्सार कांपने लगता था और एक बैल की तरह कनखियों से देख कर कुछ बुदबुदाता। नाग्यौल की शक्ल और उसकी आवाज भी जैसे उसे चिड़चिड़ा देती।

उस घमोत्सकी सप्ताह के बुधवार के दिन लोगों ने सुना कि कोत्सार मर गया और अभी जब वे पूछ ही रहे थे कि क्या हुआ कि अफ़वाह उड़ी कि उसकी हत्या हुई है। उसके बच्चे ने जो मुश्किल से दो साल का होगा, बताया कि रात में उसकी मां ने अपना घाघरा उसके पिता के मुंह पर फेंक दिया था और एक आदमी अंदर आकर उसके पिता से लड़ने लगा। और इसी में लोगों ने खुदा का हाथ देखा। उसने एक ऊनी जैकेट पहनी हुई थी। और यही चीज थी जो बच्चे ने देखी थी...इसमें ज्यादा जरूरत भी नहीं थी। अल्बेना ने कबूल किया और आत्मस्वीकृति की। लेकिन वह आदमी कौन था यह उसने धमकियों और फुसलाने के बावजूद बताने से इन्कार कर दिया।

बस इसी बिन्दु से बूढ़े दादा ब्लास्यों इस मामले का मुख्य गवाह था। उसके पास कोई कामकाज नहीं था। वह बहुत खुशमिजाज बातूनी था और हर रोज सराय के गिर्द घूमता रहता था, ठीक वैसे ही जैसे एक कुत्ता कसाई की दुकान के चक्कर लगाया करता है। जब भी आदमी लोग शराब पीने बैठते दादा ब्लास्यो वहां चला आता और उन्हीं के साथ

बतियाने लगता, हंसने लगता। इसीलिए मेज पर एक गिलास उसके लिए भी लग जाता। यहीं सराय और मिल के करीब ही उसने एक ऐसे आदमी को देखा जिसने घर में बुनी ऊनी जैकेट पहनी हुई थी। वह सुन्दर—सा गोरा था तथा उसने अपनी ऊनी झालरों वाली टोपी पीछे की तरफ इस तरह से पहनी हुई थी कि उसके माथे पर बाल बेतरतीब से दिखाई पड़ रहे थे। कोई बता सकता था कि वह किस किस्म के घटनाक्रम से गुजरा होगा क्योंकि जब उसके चारों तरफ लोग हंस गा रहे थे तब वह बिल्कुल बहरे जैसा लग रहा था। वह सिर्फ अल्बेना को देख रहा था जो अपने आंगन में घूमती दिखाई देती थी और उस आदमी को अपनी ओर देखने के लिए मानो उकसाती रहती थी। वह सिर्फ वहां दो दिन रहा और फिर विलुप्त हो गया। और उस सुबह ही लोगों ने सुना था कि कोत्सार मारा गया।

वह अच्छा लड़का था, बूढ़े दादा ब्लास्यो ने उसके साथ बैठ कर शराब पी थी। परन्तु सच्चाई छिपाई नहीं जा सकती। पुलिस ने उसके शब्दों से यह तो पा लिया था कि वह आदमी कैसा था, और कहां से आया था, इस लिए उन्होंने बूढ़े को भी जेल में डाल दिया। अब मजिस्ट्रेट लगातार उससे सवाल पूछता जा रहा था। वह कहता कि उसे इस बारे में कुछ भी पता नहीं। यह भी मुमकिन था। लेकिन वह कुछ न कुछ गढ़ सकता था और अल्बेना की तरह ही बता सकता था।

"वे आ रहे हैं", किसी ने बताया, "वे अल्बेना को पकड़ कर ला रहे हैं।" घोड़ागाड़ी के करीब भीड़ में हलचल हुई, ऊपर पहाड़ से अल्बेना आ रही थी और उसके पीछे आ रहे थे दोनों पुलिस वाले। यह उसके प्रति उनका आखिरी सद्व्यवहार था कि उन्होंने अल्बेना की मांग स्वीकार कर ली कि वह अपने कपड़ों में ही वहां जाएगी। यही वजह थी कि उसे आने में देर हुई। अब वह आ रही थी, सलीके से कपड़े पहने जैसे कि वह पहले कभी-कभी ही दिखाई देती थी।

"उसने ऐसे अपने को क्यों सजाया हुआ है", एक औरत ने पूछा, "क्या वह किसी शादी में जा रही है या फांसी घर!"

"वह वहां भी खूबसूरत रहना चाहती है।"

"यह अभिशप्त सुंदरता...। इसी ने तो उस पर यह कहर ढाया है।"

लेकिन बूढ़े ब्लास्यो जो कि वहीं थे, अपनी छड़ी उसकी ओर हिला रहे थे। वह कुछ देर वहां बैठता फिर अपनी छड़ी का इशारा करता।

"हां तो दादा ब्लास्यो," एक जवान औरत ने हंसते हुए कहा, "क्या अपनी छड़ी से शैतान के साथ लड़ाई लड़ रहे हो, आप अपनी छड़ी को इस तरह क्यों हिला रहे हैं?"

"मैं हिलाऊंगा उसे...हां, जरूर हिलाऊंगा। मैं देखना चाहता हूं कि ऐसे हिला-हिला कर उस पर तेज आघात कर सकूं जब वह यहां से गुजरे। मैं उसके सिर पर छड़ी का एक प्रहार उसे सबक सिखाने के लिए करना चाहता हूं। यहीं उसकी सुनाई

का पहला चरण है, छिनाल कहीं की..."

अल्बेना अब पास ही आ गई थी। वह तेजी से दोनों पुलिस वालों से काफी आगे चल रही थी। ऐसा शायद ही कोई था जो उसे नहीं जानता था लेकिन अब जब उन्होंने उसे देखा तो उनकी सांसे थम गई थीं। अल्बेना हमेशा की तरह वैसी ही थी बस वह हंस भर नहीं रही थी। उसकी आंखें हमेशा की तरह चंचल नहीं थीं बल्कि वे अच्छी तरह बनाई भौंहों के नीचे झुकी हुई, जमीन की तरफ गड़ी हुई थीं। उसने एक नीला बिना बांहों का कढ़ाई किया हुआ कुर्तानुमा वस्त्र पहना हुआ था और

उसके ऊपर एक लोमड़ी के से छोटे-छोटे बालों वाली सदरी भी पहनी हुई थी। उसने अपने हाथ आगे की तरफ इस तरह बांधे हुए थे मानो वह चर्च जा रही हो। लेकिन जब उसने अपनी दोनों तरफ लोगों की दीवाल-सी पाई तो उसने आंखें ऊपर उठाईं। वे आँखें और उसका चेहरा जो सबका जाना-पहचाना था, आज बहुत खूबसूरत लग रहा था क्योंकि उसकी आंखें अवसाद से भरी हुई थीं। और उसकी सुन्दर भौंहें, उसका सफेद चेहरा मानो कांति छिटक रहा हो, सुन्दरता की वह कांति जिसने उन सब लोगों को पालतू बनाया हुआ था, उन सबको गुलामों की तरह ठिठकने के लिए मजबूर किया हुआ था। वह पापिनी थी लेकिन वह बेहद खूबसूरत थी। वह औरत जो उसका तिरस्कार करने के लिए तत्पर थी बिल्कुल चुपचाप थी और दादा ब्लास्यो की छड़ी फिर हिली ही नहीं।

उन कुछ ही पलों की ठिठकन में एक जादुई चमत्कार-सा हुआ और कठोर से कठोर हृदय भी पिघलने लगा, दया और करुणा वहां खड़े आदमियों और औरतों की आंखों में दिखाई देने लगी।

"क्यों अल्बेना, क्यों मेरी अल्बेना," विलाप के स्वरों में एक औरत की आवाज उभरी, "तुमने यह क्यों किया अल्बेना ?"

"ओह ! अल्बेना... अल्बेना...!"

अल्बेना रुक गई।

"चाची डिम्बा", वह चिल्लाई, "मुझे क्षमा कर देना।" फिर वह दूसरी तरफ मुड़ते हुए बोली, "लोत्सा, टौडोकी, साब्का, सब मुझे माफ करना—अलविदा—सबको अलविदा !"

कई पहले ही रोने लग गये थे। परंतु अल्बेना आगे चलती रही उसी प्रसन्न किंतु अफसोस की मुद्रा में, उतनी ही सुंदर जितनी की वह पहले थी।

"मुझे माफ करना", उसने सबकी ओर संबोधित कर दुःखी स्वर में कहा, "मैं जवान हूं, मैंने पाप किया है। मुझ माफ कर देना।"

लोग सुबकने लगे और उसके चारों ओर भीड़ करने लगे। औरतें करीब आने के लिए ज्यादा दबाव डाल रही थीं और पुलिस वाले उन्हें पीछे धकेल रहे थे। तब कहीं से पीछे दादा ब्लास्यो की गुस्से में कांपती आवाज उभरी", रोको रोको बच्चो उसको न जाने दो। बिना अल्बेना के गांव कैसा लगेगा ?"

अल्बेना घोड़ागाड़ी तक पहुंच चुकी थी। अंदर जाकर सीधे खड़े ही उसने चीख भरी आवाज मे फिर कहा—"मैंने पाप किया है। मुझे माफ करना।"

तब वह बैठ गई और चुप हो गई। उसका बच्चा उसके पास लाया गया। वही बच्चा, जिसने उसे पकड़वाया था। और जब लोगों ने देखा कि वह उसे किस तरह सलाह रही थी, कैसे चूम रही थी तो शायद ही कोई दिल होगा जिसकी आंखें आंसुओं से तर न हो गई हों।

तभी पनचक्की बंद हो गई। वह मशीन जो रात-दिन चिमनी से आवाजें करती थी, चुप पड़ गई। लोगों ने सोचा शायद मशीन में कुछ गड़गड़ हो गई होगी। लेकिन अचानक चक्की का मालिक नाग्योल चक्की के चौड़े दरवाजे से दिखाई दिया। वह गाड़ी की ओर तेजी से चला आ रहा था। "शायद उसने नजारा देखने के लिए चक्की बंद की हो", लोगों ने सोचा।

परंतु नाग्योल ने धक्का-मुक्की कर अपना रास्ता बनाया और गाड़ी की ओर लपका। अपने हाथों में घर में बुना ऊनी कोट उठाए वह सीधे गाड़ी की ओर उछला और अल्बेना के पास बैठ गया। सब लोगों की सांस ठहर गई, क्या नाग्योल मजाक कर रहा है, क्या वह सिर्फ हंसी के लिए ऐसा कर रहा है लेकिन उसका चेहरा बिल्कुल सफेद था, चादर की तरह सफेद।

"उतरो", पुलिस वाला चिल्लाया, उसने नाग्योल को कंधे से पकड़ा और आदेश दिया, "नीचे उतरो।"

"मै नीचे नही उतरूगा। कोत्सार की हत्या मैंने की है," वह बोला।

"क्या...क्या कहा तुमने ?" मारिन चोक्या, जो उपाध्यक्ष था, चीखा, "मैं यकीन नहीं करता, क्या ऐसा मुमकिन है ?"

पुलिस वाले ने अपने कंधे बिचकाए।

"क्या यह सच बोल रहा है ?" उसने अल्बेना से सवाल किया।

अल्बेना ने स्वीकृति में सिर हिलाया और रुदन में फूट पड़ी। लोगों की घनी भीड़ घोड़ागाड़ी के करीब होती जा रही थी। हरेक की आंखें अचानक खुल पड़ी हों, उन्होंने नाग्योल को देखा। वह भी साफ रंग का सुंदर आदमी था। उसकी ऊनी टोपी भी पीछे की ओर खिसकी हुई थी और उसके आगे के बाल बेतरतीब से थे। उसने भी घर मे बुनी ऊन की जैकेट पहनी हुई थी जिसके कालर झालरदार थे। सब कुछ दिन के उजाले जैसा स्पष्ट था।

सब लोग जोर से बोलने तथा चिल्लाने लगे। जब उनकी हैरानी खत्म हो गई तो अल्बेना के लिए उनकी करुणा भी एकदम बुझ गई। औरतें तो उसकी तरफ नफरत भरी निगाह से देखने लगीं। कहीं पीछे दादा ब्लास्यो की छड़ी फिर खड़ी हुई... "वेश्या...," वह चिल्लाया। "इसने एक और घर नष्ट किया।" आदमियों से चेहरों पर जैसे काला बादल आ गिरा हो। हालांकि अभी तक उनके मुँह से अल्बेना के लिए कोई विपरीत शब्द नहीं निकला था परंतु वे अल्बेना के पास बैठे नाग्योल का दृश्य नहीं पचा सके। लेकिन सब चीजें इतनी तेजी से घटी थीं कि कोई नहीं जानता था कि—अभी क्या सोचें और क्या कहें।

उपाध्यक्ष मारिन चोक्या भी खुद उलझन में थे।

"यह सच नहीं हो सकता," वह हैरत में पड़ा-सा बोल उठा "नाग्योल यह कैसे कर सकता है ? हम सब तो उसे जानते हैं,

(शेष पृष्ठ 43 पर)

राजभाषा हिंदी का विकास और प्रयोग

राजमणि तिवारी

भारत एक विशाल देश है। इसमें अनेक भाषाएं बोली जाती हैं। इनमें से 15 प्रधान भाषाओं को हमारे संविधान में मान्यता दी गई है। इन भाषाओं का अपना-अपना विस्तृत क्षेत्र और समृद्ध साहित्य है किन्तु भारत के विस्तृत भूभाग की, और देश की अधिकांश जनता की भाषा होने के नाते संविधान द्वारा हिन्दी को राजभाषा का दर्जा क्यों दिया गया है। क्षेत्र की व्यापकता और अधिकांश जनता द्वारा इस्तेमाल किए जाने के अतिरिक्त हिन्दी की कुछ और विशेषताएं हैं जिनके कारण हमारे संविधान निर्माताओं ने इसे संघ की राजभाषा के लिए उपयुक्त समझा। एक तरफ तो हिन्दी युगों से चली आने वाली भारत की महानतम भाषा संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है, दूसरी तरफ यह बहुत ही सरल है और थोड़े समय में आसानी से सीखी जा सकती है। इसकी लिपि अत्यन्त वैज्ञानिक लिपि है। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल से यह सम्पूर्ण देश की सम्पर्क भाषा का कार्य करती आ रही है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जाने वाले तीर्थ यात्री, साधु-संत, व्यापारी आदि देश के सभी भागों में चाहे वह कश्मीर हो या तमिलनाडु, गुजरात हो अथवा असम सभी जगह किसी न किसी रूप में इसका प्रयोग करते हैं। हिन्दी के इस सार्वत्रिक तथा ऐतिहासिक दायित्व के कारण ही संविधान निर्माताओं ने इसे भारत संघ की राजभाषा बनाया है।

1950 में संविधान द्वारा हिन्दी के राजभाषा स्वीकृत हो जाने पर यह अनुभव किया गया कि चाहे इसका साहित्य कितना ही समृद्ध हो और इसकी परम्परा कितनी ही पुरानी हो, फिर भी प्रशासन के क्षेत्र में इसका अधिक उपयोग नहीं किया गया है परिणामस्वरूप इसमें प्रशासनिक क्षमता उतनी नहीं आ पाई है जितनी अपेक्षित है। यद्यपि कुछ देशी रियासतों में इसका प्रयोग अवश्य होता रहा किन्तु उनका क्षेत्र सीमित था, परिणाम-स्वरूप एक तो इसका सर्वत्र प्रचार नहीं हुआ और दूसरी तरफ नये युग की नई आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति की क्षमता इसमें नहीं आ पाई। भाषा की क्षमता भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उसके प्रयोग से ही बढ़ती है। प्रशासन एक ऐसा क्षेत्र है जिसकी अपनी अलग शब्दावली, वाक्यावली और अभिव्यक्तियां हैं, जो प्रायः रूढ़ सी हो गई हैं। प्रशासनिक क्षेत्र में कार्य करने वाले उसमें पूरी तरह निष्णात्व होते हैं जिससे वे थोड़े ही समय में और थोड़े ही शब्दों में अधिक बातें प्रकट कर देते हैं जो इस क्षेत्र में काम करने वाले सभी लोगों के लिए सुबोध होती है। चूंकि अंग्रेजों के शासनकाल में सारा कार्य अंग्रेजी में हो रहा था इसलिए सभी सरकारी कर्मचारी उसी भाषा की प्रशासनिक अभि-व्यक्तियों से परिचित थे ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि अंग्रेजी की सम्पूर्ण शब्दावली का हिन्दी में पर्याय निश्चित किया जाए और जिन शब्दों के लिए हिन्दी पर्याय सुलभ न हो उन्हें संस्कृत से खोज कर निकाला जाए अथवा उनके लिए नये पर्याय गढ़े जाएं। इसी प्रकार सम्पूर्ण क्रियाविधि साहित्य (प्रोसीजरल लिटरेचर) जो अंग्रेजी में सुलभ रहा है उसे हिन्दी में भी उपलब्ध कराया जाए ताकि हिन्दी में काम करने वालों को इस प्रकार का आवश्यक साहित्य आसानी से सुलभ हो सके। इस कार्य को पूरा करने करने का उत्तरदायित्व शिक्षा मंत्रालय को सौंपा गया हैं जिसने इस कार्य के लिए वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की है। इस आयोग ने अब तक प्रशासनिक शब्दावली के साथ-साथ वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों के लगभग 4 लाख अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी पर्याय तैयार कर दिए हैं। इसी प्रकार विधि मंत्रालय द्वारा लगभग 35 हजार अंग्रेजी के विधिक शब्दों के हिन्दी पर्याय भी तयार किए जा चुके हैं।

जहा तक कार्य-विधि साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत करने अथवा अनूदित करने का प्रश्न था, यह कार्य पहले शिक्षा मंत्रालय के अधीन केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा किया जा रहा था। बाद में 1971 में इसे राजभाषा विभाग के अधीन स्थापित केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो को सौंप दिया गया है। इस ब्यूरो ने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा अनूदित साहित्य के अतिरिक्त अब तक लगभग साढ़े तीन लाख मानक पृष्ठों का हिन्दी में अनुवाद उपलब्ध करा दिया है और यह कार्य निरन्तर चल रहा है। परिणामस्वरूप अब हिंदी में पर्याप्त मात्रा में कार्यविधि साहित्य, जिसके अन्तर्गत मैनुअल संहितायें और फार्म आदि आते हैं, सुलभ हो गया है।

भारत के संविधान द्वारा हिन्दी के राजभाषा स्वीकृत हो जाने के पश्चात् सरकारी कार्यालयों में इसका प्रयोग करने वालों पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक था उनकी स्थिति की समीक्षा करने पर देखा गया कि केन्द्र सरकार के कार्यालयों में बड़ी संख्या में ऐसे कर्मचारी भी कार्य करते हैं, जिन्हें हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान नहीं है। अतः उनको हिन्दी का प्रशिक्षण देने के लिए कार्यालय समय में ही हिन्दी कक्षायें चलाने की व्यवस्था की गई और आवश्यकतानुसार उन्हें पांचवीं, आठवीं, तथा दसवीं कक्षा तक का हिन्दी का ज्ञान कराने के लिए आवश्यक उपाय किए गए। परिणामस्वरूप अब तक साढ़े चार लाख अहिन्दी भाषी कर्मचारियों ने हिन्दी की विभिन्न परीक्षायें पास करके हिन्दी का अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर लिया है। यद्यपि इनमें से कुछ कर्मचारी अब सेवा निवृत्त हो चुके हैं किन्तु इस समय जिन नए कर्मचारियों की केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों

में भरती की जा रही हैं उनमें से अधिकांश को पहले से ही हिन्दी का ज्ञान है। केन्द्रीय सरकार के लगभग 50 विभागों/मंत्रालयों में 80 प्रतिशत से अधिक के कर्मचारियों को हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान प्राप्त हो गया है और वे अपने सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करने लगे हैं। इसी प्रकार अशुलिपिकों और टाइपिस्टों को भी हिन्दी आशुलिपि और हिन्दी टंकण का प्रशिक्षण दिया गया है और लगभग 35 हजार कर्मचारियों ने हिन्दी आशुलिपि एवं हिन्दी टाइपिंग की परीक्षायें पास कर ली हैं। बहुत से आशुलिपिक एवं टाइपिस्ट पहले से ही इनका प्रशिक्षण प्राप्त करके सरकारी कार्यालयों में काम कर रहे हैं। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग करने के लिए आवश्यक आधार भूमि तैयार हो गई है और अपेक्षित कार्य किए जा रहे हैं।

यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी संघ की राजभाषा है तथापि अनुच्छेद 343 (2) के अनुसार, संविधान के लागू होने के समय से 15 वर्ष की अवधि तक, अर्थात् 26 जनवरी 1965 तक, संघ के सभी सरकारी कार्यों के लिए पहले की भांति अंग्रेजी का प्रयोग भी जारी रखने की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 343 (3) में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह अधिनियम पास करके 1965 के बाद भी सरकारी कामकाज में अंग्रेजी का प्रयोग जारी रखने के लिए व्यवस्था कर सकती है। राजभाषा अधिनियम 1963 इसी परिप्रेक्ष्य में पारित किया गया है और बाद में 1967 में इसको सम्बोधित किया गया है।

राजभाषा अधिनियम, 1963 पारित होने के बाद एक लंबी द्विभाषिक स्थिति शुरू हुई है, जिसमें केन्द्रीय सरकार का प्रत्येक कर्मचारी सरकारी कामकाज में हिंदी या अंग्रेजी, किसी भी भाषा का प्रयोग कर सकता है और हिंदी या अंग्रेजी भाषा में तैयार किए हुए नोट या ड्राफ्ट का उसे स्वयं दूसरी भाषा में अनुवाद नहीं देना पड़ता। साथ ही, कुछ प्रयोजनों के लिए जैसे: 1. संकल्पों 2. सामान्य आदेशों, 3, नियमों, 4. अधिसूचनाओं, 5. प्रशासनिक तथा अन्य रिपोर्टों, 6· प्रेस विज्ञप्तियों, 7. संसद के किसी सदन या सदनों के समक्ष रखी जाने वाली प्रशासनिक तथा अन्य रिपोर्टों, 8, संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले सरकारी कागज पत्रों, 9, सविदाओं, 10. करारों, 11. अनुज्ञप्तियों 12. अनुज्ञा पत्रों, 13. टेंडर नोटिसों और 14. टेंडर फार्मो आदि के लिए हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं का प्रयोग अनिवार्य कर दिया गया है। लेकिन सरकार की यह सुविचारित नीति है कि संघ के कामकाज में हिंदी का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़े और वह संघ की राजभाषा के रूप में अपना उचित स्थान ग्रहण करें। वार्षिक कार्यक्रम इन मुद्दों को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं।

राजभाषा अधिनियम की व्यवस्थाओं के पालन के लिए 1976 में राजभाषा नियम बनाए गए हैं इन नियमों के अनुसार हिंदी के प्रयोग की सुविधा की दृष्टि से पूरे देश को "क" "ख" "ग" क्षेत्रों में बांट दिया गया है। "क" क्षेत्र में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश बिहार, राजस्थान हरियाणा हिमाचल प्रदेश राज्य और संघ शासित क्षेत्र रखे गए है। "ख" क्षेत्र में पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र राज्य, चंडीगढ़ और अंडमान-निकोबार प्रशासन को रखा गया है। शेष राज्यों को "ग" क्षेत्र मे रखा गया है। ऐसा इसलिए किया गया है कि जिन राज्यों में हिंदी का अधिक प्रचलन है उनसे अधिकांश पत्र-व्यवहार हिंदी में ही किया जाए और दूसरी श्रेणी के राज्यों के साथ सामान्य रूप से हिंदी में पत्र-व्यवहार किया जाए। तीसरी श्रेणी के राज्यों से भी अभी अंग्रेजी में ही पत्र-व्यवहार करने की व्यवस्था की गई है। राजभाषा नियम 1976 की महत्वपूर्ण व्यवस्थाए इस प्रकार हैं :

(क) केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों से "क" क्षेत्र में स्थित राज्यों : उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, विहार, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश राज्य और संघ शासित क्षेत्र दिल्ली। को या ऐसे राज्यों में किसी अन्य कार्यालय या व्यक्ति को भेजे जाने वाले पत्र आदि हिंदी में भेजे जाएंगे। यदि किसी खास परिस्थिति में इन्हें कोई पत्र अंग्रेजी में भेजा जाता है, तो उसका हिन्दी अनुवाद भी साथ में भेजा जाएगा।

(ख) केन्द्रीय सरकार के कार्यालय से "ख" क्षेत्र में स्थित राज्यों (पंजाब, गुजरात और महाराष्ट्र राज्य तथा चण्डीगढ़ और अण्डमान एवं निकोबर द्वीप समूह संघ शासित क्षेत्र) के प्रशासनों को भेजे जाने वाले पत्र आदि सामान्यत: हिन्दी में भेजे जाएंगे। यदि उन्हें कोई पत्र अंग्रेजी में भेजा जाता है तो उसका हिन्दी अनुवाद भी साथ भेजा जाएगा। तथापि, इन राज्यों में रहने वाले किसी व्यक्ति को भेजे जाने वाले पत्रादि हिन्दी या अंग्रेजी किसी भी भाषा में भेजे जा सकते हैं।

(ग) केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों से "ग" क्षेत्र में स्थित राज्यों ("क" व "ख" क्षेत्र में शामिल नहीं किए गए सभी राज्य और संघ शासित क्षेत्र) के किसी कार्यालय या व्यक्ति को पत्रादि अंग्रेजी में भेजे जाएंगे। इन राज्यों में स्थित केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों से "क" अथवा "ख" क्षेत्र की सरकारों, उनके कार्यालयों, आदि को भेजे जाने वाले पत्रादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी किसी भी भाषा में हो सकते हैं।

(घ) केन्द्रीय सरकार के एक मंत्रालय या विभाग और दूसरे मंत्रालय विभाग के बीच पत्र व्यवहार हिन्दी या अंग्रेजी में हो सकता है। केन्द्रीय सरकार के किसी मत्रालय/विभाग और "क" क्षेत्र में स्थित संबद्ध और अधीनस्थ कार्यालयों के बीच होने वाला पत्र-व्यवहार सरकार द्वारा निर्धारित अनुपात में हिन्दी में होगा। वर्ष

1981-82 के लिए यह अनुपात $66\frac{2}{3}$ प्रतिशत निर्धारित किया गया है। "क" क्षेत्र में स्थित केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों के बीच सभी पत्र व्यवहार हिन्दी में ही किए जाने का प्रावधान है।

(ङ) हिन्दी में प्राप्त पत्रादि के उत्तर अनिवार्य रूप से हिन्दी में ही दिये जाएंगे। हिन्दी या हिन्दी में हस्ताक्षर किए गए आवेदनों या अभिवेदनों के उत्तर भी हिन्दी में दिए जाएंगे।

(च) राजभाषा अधिनियम, 1963 की धारा 3(3) में निर्दिष्ट सभी दस्तावेजों के लिए हिन्दी और अंग्रेजी, दोनों भाषाओं का प्रयोग किया जाएगा और इसे सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी ऐसे दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति की होगी।

(छ) केन्द्रीय सरकार का कोई कर्मचारी फाइलों में हिन्दी या अंग्रेजी में टिप्पणी या प्रारूप लिख सकता है और उससे यह अपेक्षा नहीं की जाएगी कि वह उसका अनुवाद दूसरी भाषा में प्रस्तुत करे।

(ज) केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों से संबंधित सभी मैनुअल, संहिताएं और अन्य प्रक्रिया साहित्य, हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में, द्विभाषिक रूप में तैयार किए जाएंगे। सभी फार्म, रजिस्टर के शीर्ष, नामपट्ट, स्टेशनरी, आदि की अन्य मदें भी हिन्दी और अंग्रेजी में द्विभाषिक रूप में होगी।

(झ) जिन कार्यालयों के 80 प्रतिशत या उससे अधिक कर्मचारियों को हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान है, उन्हें अधिसूचित किया जाएगा। इस प्रकार अधिसूचित कार्यालयों को विनिर्दिष्ट (स्पेसीफाइ) करके उनमें काम करने वाले हिन्दी में प्रवीण कर्मचारियों को नोटिंग, ड्राफ्टिंग और अन्य विनिर्दिष्ट कामों के लिए केवल हिन्दी का इस्तेमाल करने के लिए कहा जा सकता है।

(ट) प्रत्येक कार्यालय के प्रशासनिक प्रधान का यह उत्तरदायित्व होगा कि वह राजभाषा अधिनियम और उसके अधीन बने नियमों का समुचित रूप से अनुपालन सुनिश्चित करें :

राजभाषा अधिनियम 1963 और राजभाषा नियम 1976 की व्यवस्थाओं एवं राजभाषा विभाग द्वारा समय-समय पर जारी किए गए अनुदेशों के पालन के लिए प्रतिवर्ष कार्यक्रम बनाए जाते हैं और केन्द्रीय सरकार के मंत्रालयों, विभागों एवं कार्यालयों से उन्हें क्रियान्वित करने को कहा जाता है।

राजभाषा नीति के कार्यान्वयन में सभी का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर समितियां गठित की गई हैं। प्रधान मंत्री जी की अध्यक्षता में गठित केन्द्रीय हिंदी समिति इस विषय में सर्वोच्च समिति है जो सरकारी कामकाज में हिंदी के प्रगामी प्रयोग की स्थिति की समीक्षा करती है और आवश्यकतानुसार नीति विषयक अनुदेश देती है। इस के नीचे विभिन्न मंत्रालयों की हिंदी सलाहकार समितियां हैं जिनकी अध्यक्षता संबंधित मंत्री करते हैं। अब तक 27 मंत्रालयों में हिंदी सलाहकार समितियां बनाई जा चुकी हैं। मंत्रालयों, विभागों और केन्द्रीय सरकार के अन्य कार्यालयों में राजभाषा कार्यान्वयन समितियां स्थापित की गई हैं। क्षेत्रीय कार्यालयों के लिए देश के 57 प्रमुख नगरों में जहां केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों का बाहुल्य है, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समितियां बनाई गई हैं।

राजभाषा नीति के कार्यान्वयन में हुई प्रगति की विधिवत समीक्षा तथा मूल्यांकन करने के लिए त्रैमासिक प्रगति रिपोर्टें मंगाई जाती हैं और एकत्रित सामग्री के आधार पर एक विस्तृत और विभाग-वार वार्षिक मूल्यांकन रिपोर्ट तैयार की जाती है जो संसद के दोनों सदनों के समक्ष प्रस्तुत की जाती है।

राजभाषा अधिनियम 1963 के अधीन बनाए गए राजभाषा नियम, 1976 के नियम 10(4) के अनुसार केन्द्रीय सरकार के उन कार्यालयों के नाम जिनमें 80 प्रतिशत या उससे अधिक कर्मचारियों को हिंदी का कार्यसाधक ज्ञान हो राजपत्र में अधिसूचित किया जाता है। इन कार्यालयों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपना अधिक से अधिक काम हिंदी में करेंगे। अब तक 50 मंत्रालयों-विभागों को राजपत्र में अधिसूचित किया गया है।

आधुनिक काल में तकनीकी और यांत्रिक क्षेत्रों में हुई प्रगति के फलस्वरूप भाषाओं के विकास और प्रसार में यांत्रिक और इलैक्ट्रानिकी साधन बहुत बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। राजभाषा विभाग ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं और यह विभाग विभिन्न संगठनों द्वारा देवनागरी यंत्रों और इलैक्ट्रानिकी के साधनों के विकास के लिए किए जा रहे कार्यों में समन्वय करने का कार्य कर रहा है। इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण उपलब्धि है पिन-प्वाइंट टाइप मशीन का निर्माण, जिसका प्रयोग बैंकों तथा अन्य व्यावसायिक संगठनों द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त इलैक्ट्रानिक टेलीप्रिंटर तथा कम्पयूटर में प्रयोग की जाने वाली मशीनों के लिए देवनागरी कोड और कुंजी-पटल का विकास किया जा रहा है।

हिंदी का प्रगामी प्रयोग प्रोत्साहन, प्रेम तथा सद्भावना से ही बढ़ाया जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजभाषा विभाग विभिन्न प्रकार के प्रयास कर रहा है। राजभाषा संबंधी कार्यों की जानकारी देने के लिए विभाग की तरफ से 'राजभाषा भारती' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। देश के विभिन्न स्थानों पर स्थित केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों की सुविधा के लिए राजभाषा विभाग समय-समय पर हिन्दी के प्रयोग के बारे में जारी किए गए आदेशों का संकलन भी प्रकाशित करता है। इस संकलन का द्वितीय संस्करण 1981 में प्रकाशित किया गया है।

—वरिष्ठ अनुसंधान अधिकारी एवं संपादक,
राजभाषा विभाग, लोकनायक भवन, नई दिल्ली

कहानी

प्रतिबिंब

प्रेमचंद सहजवाला

प्रोफेसर शुक्ला के घर गप्पें मारते रात के साढ़े दस बज गए। आखिर घड़ी देख उठ खड़ा हुआ मैं। आकर कमरे का ताला खोला। अपनी दिनचर्या ऐसी ही है। पहले-पहले इस शहर में नौकरी लगी तो कुछ दिन बड़ी कोफ्त हुई मुझे। दफ्तर बहुत गंदे मोहल्ले में, वहीं कमरा भी लिया था। चारों तरफ गंदगी, धूल और दुर्गन्ध का साम्राज्य। वहां के लोग भी घटिया टाईप। लेकिन फिर प्रोफेसर शुक्ला ने यह बढ़िया कमरा दिलवा दिया। मकान मालिक उर्फ बाबूजी निहायत ही शरीफ और नेक इन्सान।

दरअसल यह कमरा किराएदार के कमरे सा लगता भी नहीं। बाबूजी के मकान का ही ड्राइंग रूम है। लेकिन बाबूजी से प्रोफेसर शुक्ला ने भेंट करवाई तो बाबूजी बोले—मुझे आप की नेचर बहुत पसंद आई। पैसे की थोड़ी सी तंगी है, लेकिन कोई ढंग का आदमी नहीं मिला। इसलिए यह कमरा कभी किराए पर नहीं दिया। प्रोफेसर शुक्ला ने बाबूजी को मेरे बारे में आश्वस्त किया। तब से यहीं हूं।

माई रात का खाना आठ बजे ही बना कर चली गई थी। ताले की एक चाबी माई को भी दे रखी है। मैं कमरे में न भी होऊं, वह खाना बना कर, कमरे की सफाई अपने आप कर जाती है। कमरे के कोने में एक मिनी-किचन बना रखा है। लेकिन आते ही आदतन मैं चारपाई पर लेट गया। दो तीन सिग्रेटें फूंकने से पहले उठूंगा नहीं। बाबूजी कई बार टोक चुके हैं—इतनी सिग्रेटें मत पिया करो। सेहत के लिए अच्छी नहीं होती।

जब से इस कमरे में आया हूं, किराएदार नहीं, घर का ही एक सदस्य बन गया हूं। इधर की दीवार वाला दरवाज़ा सीधे बाबूजी के कमरे की तरफ खुलता है। सोचा बाबूजी से जाकर पूछ लूं—पैर का दर्द अब कैसा हैं? लेकिन शायद वे लोग सो चुके हों। मेरी इस आवारा टाईप दिनचर्या पर बाबूजी और माताजी दोनों हंसते हैं। कैसा बेफिक्र आदमी है। खाने-पीने का कोई समय नहीं। बस, सिग्रेटें फूंकना, लोगों के पास आना-जाना, या प्रोफेसर शुक्ला के घर रात देर-देर तक गप्पें मारना। बाबूजी की तरह प्रोफेसर शुक्ला, उनकी पत्नी तथा बच्चे भी मेरे आत्मीय, नितांत अपने बन गए हैं।

आखिर मिनी टेबुल सरकाई। हाथ धोए और खाना गर्म करके टेबुल पर रखा ही था कि बीच का दरवाज़ा खोल माताजी कमरे में आईं और बोलीं—बेटे, अब खाना खा रहा है? लगा जैसे उधर कोई समस्या है। माताजी बोली—तेरे बाबूजी के पैर का दर्द बढ़ गया बेटे। नींद नहीं आ रही।

मैं उठ खड़ा हुआ तुरंत। माताजी बोली भी—पहले खाना खा ले। पर मैं रुका नहीं। उधर बाबूजी दीवार से टेक लगाए दांया पैर एक मोटे से तकिए पर रखे बैठे थे। चेहरा दर्द से मुरझा सा गया था।

बाबूजी के टखने में कल दिन के समय चोट लग गई थी। साईकिल पर स्टेशन की तरफ एक जगह उतरे ही थे कि एक रिक्शे से टकराते-टकराते बचे। लेकिन लड़खड़ाहट में रिक्शे का पैडल जा कर टखने में धंसा। उस समय खास पता भी नहीं चला। साईकिल चलाते-चलाते घर भी आ गए। लेकिन रात अचानक दर्द उभरा तो माताजी ने मुझे ही बुलाया। मैं उस समय बिस्तर पर लेटा कोई उपन्यास पढ़ रहा था। उपन्यास तकिए पर उल्टा ही रख कर मैं बाबूजी के पास चला गया। बाबूजी संकुचित से होकर बोले—तुझे तकलीफ दी बेटे। वीरू तो जयपुर गया है अपनी बहन से मिलने। वीरू यानी उनका लड़का।

उनकी बात का उत्तर न दे कर मैं कल बाबूजी के पास बैठ गया था। माताजी से बोला—दर्द की जगह पर मलने वाली कोई क्रीम है तो दे दें। माता जी बोली—है तो। लेकिन मुझे हाथ ही नहीं लगाने देते। मैंने बाबूजी के टखने के आसपास दो-चार जगह दबाया। कहां दर्द है? यहां? एक जगह स्पर्श होते ही बुरी तरह कराह उठे वे। मैं क्रीम लेकर टखने के आस-पास बेहद नज़ाकत से मालिश करने लगा। ऐसे कि दर्द बिल्कुल न हो। बाबूजी को शायद सुकून मिल रहा था मालिश में। दर्द की जगह पर हल्का सा स्पर्श होते ही वे थोड़ा कराह उठते। उन्हें सुकून शायद मालिश से अधिक किसी आत्मीय को ऐसे समय अपने करीब पा कर मिल रहा था। वे बोले—बेटे, तू जब यहां से जाएगा, मुझे कई दिन चैन नहीं आएगा। आजकल के जवान छोकरे तो बुजुर्ग के आगे नज़र नीची करने में भी अपनी हेठी समझें। और तू इतने अदब से मेरे पैर पकड़ मालिश कर रहा है।

बाबूजी रिटायर्ड आदमी हैं। बल्कि रिटायर तो वे समय से बहुत पहले हो गए थे। एक प्राईवेट नौकरी छोड़ अपनी सारी जमा-पूंजी लगा कर एक फैक्ट्री खोल ली थी। लेकिन बिज़नेस मैन जैसी शख्सियत उनके पास नहीं थी। इसलिए बिज़नेस में सारा पैसा डूब गया। अपनी सारी जमा पूंजी धोखेबाज़ पार्टनरों के हाथों लुट जाने की गहरी कुंठा और वह खालीपन। कई साल पहले एक दीवार से गिर जाने पर रीढ़ की हड्डी में चोट लग गई थी इसलिए दोनों हाथ पीछे बांध ज़रा झुक कर बेचैनी

से टहलते-टहलते उन्हें रोज देखता हूं। जैसे जिन्दगी का यह सुनसानपन उन्हें सालता हो निरन्तर। मैं कमरे में होता हूं तो बीच के दरवाजे पर कुर्सी डाल मेरे साथ दुनिया जहान की बातें करते हैं। इस जन्म की, पिछले जन्म की, कर्मों के फल की। जो बातें बाकी दुनिया सुनती-समझती नहीं, उन का कद्रदान उन्हें जैसे मेरे अंदर मिल गया हो। मेरी आदत है, किसी की बातें सुनते समय मैं बेहद धीरज से काम लेता हूं।

बाबूजी के पैर मे मालिश करते-करते कल बहुत देर हो गई थी। एक पत्थर गर्म करके माताजी ने सेंक भी किया था। आखिर बाबूजी को नींद आने लगी तो मैं कमरे में आकर लेट गया था। लेकिन मन में कहीं संदेह-सा उभरा कि कहीं टखने की हड्डी में फ्रैक्चर न हो गया हो। लेकिन फिलहाल कुछ कहा नहीं था मैंने।

और इस समय बाबूजी को दर्द से तड़फता देख मैंने बाबूजी से कहा— आप उठकर खड़े हो जाइए ज़रा। मुझे डर है, कहीं फ्रैक्चर न हो गया हो। कभी-कभी चोट ऐसी ही लगती है। उस समय पता नहीं चलता। लेकिन दो-तीन दिन बाद हालत बुरी हो जाती है।

बाबूजी उठने लगे तो मैंने सहारा दिया। लेकिन पैर पर शरीर का बोझ पड़ते ही वे चीख पड़े बुरी तरह। और लड़खड़ाते हुए बिस्तर पर गिर गए। दर्द के मारे उनका चेहरा बदहवास सा हो गया। माताजी एकदम रुआंसी होकर बोली— मैंने मना भी किया। ज्यादा चल फिर मत करो। अब खड़े भी नहीं हो पा रहे।

मैंने माताजी को आश्वस्त किया और स्टेशन पर रिक्शा लेने चला गया।

स्टेशन से रिक्शा लाकर मकान के ठीक सामने खड़ा किया मैंने। अंदर बाबूजी हवा में पैर लटकाए खड़े हो गए। पैर दर्द से सूज सा गया था। मैंने उनकी बाजू उठाकर अपने कंधे पर रख दी। साथ में माताजी ने सहारा दिया। सहसा उस क्षण अपने पिताजी का ख्याल हो आया मुझे। हालांकि दिल्ली बहुत नजदीक नहीं, तो दूर भी नहीं। लेकिन घर महीने में एक ही बार जाता हूं। पिता जी पिछले पांच वर्ष से पेट के भयानक दर्द की यातना को भोग रहे है। दो-चार बार उन्हें खून की उल्टियां भी आई। सुबह चार बजे उठकर पाठ करते है वे भी। लेकिन पाठ कम, दर्द के मारे रोते अधिक हैं। कभी-कभी इतना, कि मोहल्ले-टोले वाले जाग कर रो पड़े। जाने कितनी बार वे हस्पताल में कई-कई दिन रहे। शैल भाभी, जो दिल्ली में घर संभालती है, हर बार उन्हें मौत के मुंह से खींच लाई। लगता है, पेट के दर्द की यह नारकीय यातना आखिर उन्हें मृत्यु के क्रूर हाथों में सौंप कर ही दम लेगी।

रिक्शे वाले की मदद से बाबूजी के भारी भरकम शरीर को

उठा कर रिक्शे में बिठाया। रिक्शे वाला सीट पर बैठा तो मैं इधर माताजी के साथ सट कर सीट के किनारे पर असंतुलित सा टिक गया। नीचे कोई लोहे की चीज चुभने लगी। माताजी बोलीं—इधर से संभलियो बेटे। गिर न जाओ। कह कर अपनी दाईं बाजू का घेरा डाल मुझे पकड़े रखा। ताकि गिर न जाऊं।

× × ×

रिक्शा धीमे से चल पड़ा। शाम कुछ बारिश पड़ चुकी थी। इसलिए इस छोटे शहर की सड़क जगह-जगह खराब हो चुकी होगी। मैंने रिक्शे वाले से कहा—आराम से चलो। कोई जल्दी नहीं। सब ठीक हो जाएगा। किसी के दुख-दर्द में इस

(शेष पृष्ठ 40 पर)

भारतीय भाषाओं का देवनागरीकरण—समस्याओं के घेरे

प्रो० राम नरेश शर्मा

भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि की समस्या, भावात्मक एकता और रचनात्मक सचेतना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343 में स्पष्टत: उल्लेख किया गया है कि संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी और सरकारी प्रयोजनों के लिए भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप प्रयुक्त होगा। भारतीय संसद ने 26 जनवरी 1965 को राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को प्रतिष्ठित किया। लेकिन 15 वर्षों के अन्तराल में राष्ट्रभाषा दलगत राजनीति के कर्दम में कसमसाती रही हैं। कभी हिन्दी-विरोध-दिवस मनाया जाता है, कभी जबर्दस्ती हिन्दी-थोपने का आरोप लगाया जाता है तो कभी क्षेत्रीय भाषाओं के व्याघातक के रूप में हिन्दी-साम्राज्यवाद का हौआ खड़ा किया जाता है। ऐसी स्थिति में जब भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि का प्रश्न उठता है और राष्ट्रभाषा की राष्ट्रीय लिपि नागरी का निर्धारण किया जाता है तो इसके औचित्य, प्रतिरोध और समस्याओं के घेरे को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

मूलत: भाषाओं और तज्जन्य लिपियों का शरीर और अंग जैसा सम्बन्ध होता है। शरीर में हड्डी और मांस का, स्नायु और रक्त का जो नैसर्गिक सम्बन्ध होता है, वही सम्बन्ध परम्परा और परिवेश को आयत्र करते हुए भाषा और लिपि प्रदर्शित करती है। अत: किसी भी भाषा का लिप्यान्तरण उसके सहज स्वरूप, ध्वनि-संवेदना एवं व्यंजना-कौशल के नैसर्गिक सौन्दर्य को विघटित भी कर सकता है। पुन: संस्कृति, रीतिरिवाज, समाज, साहित्य एवं प्रथा-प्रचलन की तरह लिपि-मोह, अवधारणा एवं निष्ठा को नकारना सहज नहीं है। अत: नागरीकरण की समस्या निरपेक्ष दृष्टिकोण तथा तटस्थ चिन्तन की मांग करती है, व्यामोह की मानसिकता इसका समाधान नहीं कर सकती।

इतना निर्विवाद है कि समान लिपि का प्रश्न हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की सरकारी घोषणा के बाद नहीं उठा — इसकी गूंज-अनगूंज तो गुलाम हिन्दुस्तान के पत्रों में ही सुनाई पड़ती है। कलकत्ता हाईकोर्ट के माननीय जस्टिस श्री शारदा चरण मित्र ने एक लिपि की आवश्यकता अनुभव करते हुए देवनागरी को संसार की समस्त लिपियों में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया था। कलकत्ते की "एक लिपि विस्तार-परिषद" के तत्वावधान में "देवनागर" मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया गया था जिसका लक्ष्य नागरी लिपि मे भारतीय भाषाओं की रचनाओं को मुद्रित करना था। देशरत्न डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने अपने लेखों और भाषणों में राष्ट्रीय लिपि के रूप में नागरी की सार्थकता और अपूर्णता का जोरदार समर्थन किया था। प्रख्यात दक्षिणी विद्वान श्री अनन्त शयनम आयंगर ने उद्घोषणा की थी कि निकट भविष्य में दक्षिण की द्रविड़ भाषाएं नागरी के संशोधित रूप को स्वीकर कर लेंगी।

आजादी के बाद क्षेत्रीय भाषाओं के विकास पर पर्याप्त बल दिया गया और राष्ट्रीय स्तर पर अध्ययन-मनन एवं प्रसारण की दिशा में सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से समान लिपि का प्रश्न महत्वपूर्ण बन गया। यह तर्क दिया गया कि एक लिपि के कारण भाषाओं के सीखने में सुकरता होगी, श्रम, साधन और समय की बचत होगी तथा विभिन्न भाषा-भाषियों के साहचर्य सूत्र में बंधने के कारण वैचारिक विनिमय का क्षितिज विस्तृत होगा। समान लिपि भौगोलिक व्यवधान को पाटेगी और आभ्यान्तरिक धरातल पर भावात्मक एकता को सबल बनाएगी।

"कोई भी लिपि चाहे वह जितनी भी परिपूर्ण और ध्वनि सम्पदा से विभूषित हो, अन्य भाषाओं के लिए विनियोजित होकर अपनी पूर्ण समर्थता की रक्षा नहीं कर पाती। अस्तु, नागरी को सम्प्रति अनिवार्य नहीं, वैकल्पिक स्तर पर ही प्रतिष्ठित करना सार्थक और वांछनीय होगा।" लेखक

इसमें सन्देह नहीं कि देवनागरी की प्रतिस्पर्द्धा में अन्य भारतीय लिपियां विभिन्न भाषाओं के ध्वनि ऐश्वर्य को सहेज सकने में अपूर्ण और असमर्थ दिखाई पड़ती है। नागरी सर्वाधिक प्राचीन, वैज्ञानिक, सरल और सम्पन्न लिपि है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का मूलाधार ब्राह्मी लिपि है और उत्तरी ब्राह्मी लिपि से गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, शारदा, बंगला और नागरी का अभ्युदय हुआ है। इसकी दक्षिणी शैली से महाराष्ट्री, मध्य प्रदेशी, तेलुगु,कन्नड़ी, ग्रन्थलिपि, तमिल और कलिंग लिपि का विकास हुआ है। दक्षिण की नागरी लिपि "नन्दिनागरी" के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका दूसरा नाम ग्रन्थ-लिपि है और आज भी इसमें संस्कृत के ग्रन्थ लिखे जाते हैं। उत्तरी भारत की लिपियां तो नागरी के ही रूपभेद हैं, उसकी सन्तान हैं, फलत: उनमे अत्यधिक समानतायें परिलक्षित होती हैं।

समग्रत: नागरी एक आदर्श लिपि के समस्त वरेण्य गुणों से अभिमंडित है। यहां एक ध्वन्नि के लिए एक संकेत निर्धारित

है अर्थात् ध्वनि और संकेत में निश्चिन्तता के कारण जो लिखा जाता है, उसका उच्चारण बिल्कुल वही किया जाता है। यह नागरी की ऐसी मौलिक विशेषता है जो अन्य लिपियों से इसे पृथक् और विशिष्ट बना देती है। अंग्रेजी में ध्वनियां तो चालीस से भी अधिक हैं, लेकिन वहां केवल 26 लिपि चिह्नों से ही काम चलाना पड़ता है। पूर्णत: ध्वनि-सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण नागरी की वर्णमाला में संसार की समस्त भाषाओं की अधिकांश ध्वनियों को उच्चरित करने की अपूर्व सामर्थ्य है। फलत: भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि के सन्दर्भ में देवनागरी की कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं की जा सकती।

लेकिन इन विशेषताओं के बावजूद भारतीय भाषाओं के देवनागरीकरण की प्रक्रिया में बहुत-सारे प्रश्नों की कतार खड़ी हो जाती है। किसी भी भाषा के पाठकों और अध्येताओं के कई वर्ग होते हैं। अगर कोई सुशिक्षित प्रौढ़ कई भाषाओं को सीखता है तो यह उसकी अनिवार्यता कम, व्यक्तित्व-विभूषण और भावात्मक परितोष अधिक होता है। अत: उसके लिए तो लिपि-ज्ञान मे श्रम-लाघवता का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन अगर किसी शिशु को अपनी मातृभाषा अन्य लिपि के माध्यम से सीखनी है तो यह दुर्वह बोझ क्या उसकी अभिरुचि और उत्साह को कुंठित कर देने के लिए पर्याप्त नहीं है ? कहा जाता है कि मातृभाषा का ज्ञान उसके लिए माता के दूध के समान आवश्यक है और इस ज्ञानार्जन में उसे मूल लिपि से विच्छिन्न कर देना, परम्परागत विरासत संस्कार और अधिकारों से वंचित कर देना है। उदाहरण के लिए किसी बंगाली भाषी शिशु को नागरी के माध्यम से बंगला सीखनी पड़े तो वह "लक्ष्मी" बोलेगा, लेकिन उसके परिवार के अन्य सदस्य "लक्खमी" बोलेंगे। पुन: मातृभाषा सीखने के लिए नागरी की बहुत बड़ी वर्णमाला उसे सीखनी होगी क्योंकि नागरी से बड़ी वर्णमाला संसार की भाषाओं के मानचित्र में कम ही दिखाई पड़ती है।

द्वितीयत: लिपि-ज्ञान भाषा और साहित्य का ज्ञान नहीं है। नागरी वर्णमाला के बोध मात्र से कोई व्यक्ति हिन्दी भाषा और उसके विपुल साहित्य का आस्वादन नहीं कर सकता। इसके लिए तो भाषा और साहित्य का सुदीर्घ व्यवस्थित अध्ययन-अनुशीलन करना ही पड़ेगा। किसी भी भाषा-साहित्य के ज्ञान के लिए, उसकी अभिव्यक्ति की बारीकियों और विशेषताओं को समझने के लिए, केवल वर्णमाला से सुपरिचित होना ही पर्याप्त नहीं है। पाश्चात्य मुल्कों में अधिकांश भाषाओं की लिपि रोमन है, लेकिन केवल रोमन लिपि की जानकारी हासिल कर लेने मात्र से कोई अंग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति फ्रेंच, जर्मन, इटालियन आदि भाषाओं का ज्ञाता नहीं हो जाता। चीन, जापान, कोरिया आदि पूर्वी एशियाई देशों की लिपि चित्र-लिपि है, लेकिन लिपि-गत एकरूपता के कारण क्या जापानी भाषी चीनी भाषाओं का ज्ञान अर्जित कर लेता है ? चीन में प्रचलित भाषाओं की संख्या लगभग अर्द्ध शतक है और समस्त चीनी भाषाओं की लिपि एक है, लेकिन लिपि का पूर्ण परिज्ञान रखते हुए भी दक्खिनी चीन का नागरिक उत्तरी चीनी भाषाओं को समझ भी नहीं पाता।

जहां तक राष्ट्रीय और भावात्मक एकता का प्रश्न है, वह लिपि और वर्णमाला पर केन्द्रित नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण वाङ्मय में प्रतिपादित विचारों की एकरूपता और परम्परागत आदर्शों की लोकोन्मुखी रचनात्मक चेतना के समीकरण का परिणाम होता है। अगर लिपि की समानता के कारण भावात्मक एकता बलवती होती और समान लिपि वाले भू-भागों का तनाव कम होता तो दो-दो महायुद्धों की विभीषिकाओं में मानवता को झुलसना नहीं पड़ता। ब्रिटेन और फ्रान्स का सौ वर्षों का समर सिद्ध कर देता है कि लिपि की समानता भावात्मक एकता के स्फुरण में प्रभावहीन है।

समग्रत: नागरी करण की समस्याओं के घेरे कुछ कम कंटकाकीर्ण नहीं है। प्रतिरोध और समस्याओं के इन कांटो का उन्मूलन सस्ती भावुकता, नारेबाजी अथवा राजनैतिक तेवर से किया भी नहीं जा सकता। यों भी किसी भाषा की विशिष्ट परम्परा, ध्वनि-सम्पदा और व्यंजनागत विच्छत्ति होती है, जिसका लिप्यान्तरण सहज नहीं होता। कोई भी लिपि चाहे वह जितनी भी परिपूर्ण और ध्वनि-सम्पदा से विभूषित हो, अन्य भाषाओं के लिए विनियोजित होकर अपनी पूर्ण समर्थता की रक्षा नहीं कर पाती। अस्तु नागरी को सम्प्रति अनिवार्य नहीं, समान लिपि की दृष्टि से वैकल्पिक स्तर पर ही प्रतिष्ठित करना सार्थक और वांछनीय होगा।

—रीडर, हिंदी—विभाग आर० आर० एस० कालेज
मोकामा (पटना)

(पृष्ठ 5 का शेषांश)

मैनुअल" में सम्मिलित किया, जो 1804 में हिन्दुस्तानी प्रेस कलकत्ता से हिन्दी रोमन आर्थियोएपीग्राफिकल अल्टीमेटम में छपा। अंग्रेज विद्वानों में फ्रेंकरिक पिकांट का हिन्दी प्रेम प्रसिद्ध है। वे व्यापारी थे और मृत्यु से कुछ समय पहले ही भारत आये। परन्तु उन्होंने हिंदी व अंग्रेजी में अनेकों पुस्तकें लिखीं, हिन्दी मेन्युअल छपवाई व लेखकों की समीक्षा की।

इस प्रकार अनेकों जर्मन, डच, इटालवी और फ्रांसीसी गासी तासी जैसे विद्वानों ने, जिन्होंने पत्रों का इतिहास लिखा है, हिन्दी और उससे मिलती-जुलती भाषाओं पर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे। व्याकरण व शब्दकोश बनाये, तुलनात्मक भाषा विज्ञान को प्रोत्साहन दिया और हिन्दी के रचनाकारों को अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से पश्चिम में और प्रकारान्तर से उनका और भारत के विद्वानों का भी ध्यान आकर्षित किया। इनकी सेवाएं भुलाई नहीं जा सकती।

—55, काका नगर, नयी दिल्ली-110003

चीन के राष्ट्रकवि ली-पो

डा० रूपचन्द पारीक

भारत के समान चीन का अतीत भी अत्यन्त गौरवपूर्ण रहा है। कला तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में प्राचीन चीनी प्रतिभाओं ने प्रशंसनीय रचनाएं प्रस्तुत की थी। यह साहित्य यद्यपि संस्कृत साहित्य के समान तो प्राचीन नही है, फिर भी 600 ई० पू० से उसकी धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हुई है जो आज तक रुकी नही है। उस काल में समूचे साहित्य पर कविता का एकाधिकार था। कविता के इस महत्व की घोषणा 'तांग वंश का काव्य संग्रह' आज भी कर रहा है। जो नौ सौ भागों में विभक्त हैं। इनमें अड़तालीस हजार नौ सौ कविताएं संकलित हैं—जिनके रचनाकार लगभग ढाई हजार कवि थे। इस संकलन का सम्पादन पूरे एक हजार वर्ष के पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में हुआ। इस संकलन में संकलित ली-पो की रचनाएं उनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय देती हैं।

इतिहास के अनुसार तांग वंश का शासन चीन की सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। भारतीय इतिहास में जो स्थान गुप्तकाल का है, चीनी इतिहास में वही स्थान तांग काल का है। तत्पश्चात शासन सूत्र सोवान-सोंग ने संभाला। तांग वंश के समय में चीन में सर्वत्र बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। इसी काल में प्रसिद्ध बौद्ध यात्री 'हयून -- सांग' बौद्ध धर्म के दार्शनिक मर्म का अध्ययन करने भारत आया था। हर्षवर्धन की सभा ने उसका सम्मान किया था। भारत से चीन लौटते समय वह हजारों संस्कृत ग्रन्थ अपने साथ ले गया। काल की सुदीर्घ अवधि पार कर वे ग्रन्थ सुप्रसिद्ध 'हान-लिन एकेडमी में सुरक्षित रहे—इनमें से अधिकांश का अनुवाद चीनी भाषा में तत्कालीन चीनी विद्वानों ने कर उनका उपयोग करने का सफल प्रयास किया।

ली-पो का जन्म एक सामान्य परिवार में 'शोह' में हुआ। वे उच्चवंशीय थे। 'शोह' चीन के सुरम्य स्थानों मे से एक है। लहलहाते हुए धान के खेत, बलखाती इठलाती नदियां और स्वच्छ पानी से परिपूर्ण झीलों का ली-पो के कवि हृदय पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपने जीवन के कुछ संकेत किये है। उनकी जन्मतिथि अनिश्चित एवं सदिग्ध है। मिंग के शासन काल में कवि यांग—चो ने ली-पो की रचनाओं का गवेषणात्मक अध्ययन कर उनकी जन्म-तिथि 701 ई० निश्चित की, परन्तु अन्य विद्वानों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया। कुछ के मत में उनका जन्म 699 ई० म और कुछ के अनुसार 705 ई० में हुआ।

बाल्यकाल में ही ली-पो में प्रतिभा के अंकुर नजर आने लगे। 10 वर्ष की कच्ची उम्र मे ही उन्होंने न केवल कनफ्यूशस के ग्रन्थ रट डाले वरन् कविता भी लिखने लगे। इसी उम्र में उन्होंने अपनी पहली कविता लिखी जिसे पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हुई। न मालूम किन परिस्थितियों के कारण कवि को सांसारिक व्यवहारों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई और 18 वर्ष की अल्प आयु में पर्वतीय प्रदेश 'ससो-चो-एन' में रह कर एकान्त साधना करने लगे। तत्कालीन स्थानीय गर्वनर ने इनकी ख्याति सुन कर इन्हें एक उच्च सरकारी पद के लिए आमंत्रित किया परन्तु उन्मुक्त कवि हृदय ली-पो ने यह सम्मान स्वीकार नहीं किया। प्रकृति के प्रति कवि के हृदय में पर्याप्त अनुराग था। ली-पो ने एक स्थल पर लिखा है—

'मेरा सम्पर्क उन ऊंचे-ऊंचे उड़ने वाले बादलों के साथ रहा है।

मेरे हृदय में स्वतंत्रता की इच्छा रहती है,
मैं प्रकृति का उपासक ठहरा, मेरा
मेरा हृदय इन पर्वतों में रमा है।

बीस वर्ष की अवस्था में कवि के जीवन में परिवर्तन हुआ। उनके फक्कड़पन से उब कर उनकी पत्नी उन्हें छोड़ कर चली गई। सुरा और संगीत की ओर कवि का विशेष आकर्षण हो गया। कवि पर्यटन के लिए निकल पड़े और उन्होंने दूर-दूर की यात्राएं की। इन्हीं दिनों उनका परिचय तत्कालीन महाकवि टयू-फ्यू से हुआ—जिनकी दृष्टि वस्तुपरक थी और जो अपनी भौतिकवादी रचनाओं के कारण यश अर्जित कर चुके थे। दोनों कवियों का परिचय शीघ्र ही प्रगाढ़ स्नेह में परिवर्तित हो गया। और जीवन पर्यन्त दोनों एक दूसरे को अपनी रचनाएं भेजते रहे। टयू-फ्यू ने ली-पो और उनके सहयोगी मित्रों के जीवन का सच्चा चित्रण अपनी एक कविता में इस प्रकार किया है—

'और ली-पो की बात ?
उसकी तो यह हालत है कि एक प्याला पीकर,
सौ पद्य लिख लिया करता है
प्रायः वह अपने इन मित्रों के साथ
राजधानी की किसी मद्यशाला में ही पड़ा ऊंघता रहता है
मदिरा वहीं उसके प्राण और मन में समाई हुई है
सम्राट का बुलावा आने पर
वह अनुशासन को ठुकरा देता है और कहता है
—आलीजाह, मैं तो मद को देखता हूं।"

तत्कालीन सम्राट ह्यान सांग विद्वान, कलामर्मज्ञ और रसिक होने के साथ उदार भी थे। ली-पो की ख्याति सुनकर उन्होंने उन्हें आमंत्रित किया और सम्मान के साथ अपनी सभा में रखा। साथ ही उन्हें हान-लिन-एकेडमी का सदस्य भी नियुक्त किया। राज्य सभा का कठोर अनुशासन ली-पो की स्वतंत्र प्रकृति पर अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सका। उदार हृदय सम्राट उनकी सभी त्रुटियों को उदारता पूर्वक क्षमा कर देते थे। ली-पो की काव्य शक्ति में वह चमत्कार था कि उनके सभी दोष छिप जाते थे। सम्राट उनकी कविताओं पर मुग्ध हो चुके थे। एक अवसर पर सम्राट अपनी प्रेयसी के साथ बैठे अपने चारों ओर के दृश्यों की रमणीयता से प्रभावित हो गए। उन्होंने तुरन्त ली-पो को बुला भेजा और आने पर कविता करने का आदेश दिया। कवि ने सुन्दर कविता की रचना की। एक बार ली-पो अधिक मदिरापान करके सभा में आए और 'काऊली शेख' नामक एक उच्च अधिकारी से उलझ पड़े। सम्राट ने शेख की गलती समझ कर उसे कवि के जूते खोलने का आदेश दिया जिसका पालन उसे अनुशासन के डर से करना पड़ा। वह अपने अपमान का बदला लेने का अवसर खोजने लगा। प्रस्तुत कविता सुनकर उसने रानी को जाकर सिखाया कि इसमें आप पर व्यंग्य है। रानी ली-पो पर कुपीत हो गई और वह सदा सम्राट से ली-पो को दरबार से निकालने को कहती रही। परिस्थिति से अवगत होकर ली-पो को सम्राट से पुनः पर्वतीय प्रदेश जाने की अनुमति मांगनी पड़ी जो उन्होंने रानी के प्रभाव में आकर दे दी। उस समय ली-पो की आयु 45 वर्ष थी और वे तीन साल राजधानी में रह चुके थे।

ली-पो पुनः पर्यटन के लिए निकल पड़े और उन्होंने समस्त देश का भ्रमण किया। शान-तून में उनकी भेंट सोगन्ची से हुई जो किसी उच्च पद पर नियुक्त था। इसी समय तीव्र धर्म की पलायनवादी मनोवृत्ति ने उन्हें प्रभावित किया और उनके काव्य में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने लगी। यह 755 ई० का समय था। चीन में इसी समय विद्रोह हुआ और विद्रोहियों ने तो—यांग नगर पर अपना अधिकार कर लिया। राजकुमार 'युन-वाङ' विद्रोह के संकटकालीन समय से लाभ उठाने का विचार कर रहा था। उसने ली-पो को एक उच्च पद पर नियुक्ति का आमंत्रण दिया और ली-पो ने उसे स्वीकार कर लिया। भाग्य के प्रतिकूल होने पर 757 ई० में विद्रोह दब गया और 'युन-वांङ' के साथ ली-प्रो की मृत्यु-दण्ड का आदेश मिला, परन्तु न्यायाधीशों की प्रार्थना पर सम्राट ने वह आज्ञा रद्द कर दी। कवि को छुटकारा तो मिला, परन्तु उन्हें 'युन-वाङ' प्रान्त को सदा के लिए छोड़ने पर विवश होना पड़ा। कवि की निर्वासित आत्मा की पुकार इन पंक्तियों में सजीव हो उठी है।

"मेरी आत्मा चांगकान में जाने के लिए सदा
छटपटाती रहती है।
जलकूप की सुनहली परिधि पर बरसाती कीड़े गुनगुना रहे हैं।
मेरी ठण्डी चटाई पर कुहरे का झीना आवरण
दर्पण की भांति दमक रहा है।
ऊंचे पर स्थित लैम्प की बत्ती हिल रही है
और मेरी व्यथा भी बढ़ती जा रही है !
मैं शिश उठा कर अनेक निःश्वासों के साथ चन्द्रमा की ओर, जो मेघों के
मध्य में एक पुष्प की भांति एकाकी टंगा है, आंखें गड़ाये हूं।
ऊपर आकाश में गरिमामयी नीलिमा दृष्टिगत होती है,
और नीचे किंचित हरीतिमा की झलमलट के साथ
अस्त-व्यस्त जल दीख रहा है।
आकाश ऊंचा हैं और पृथ्वी विस्तृत,
दोनों के मध्य मेरी आहें उड़ रही हैं।
पर्वत-शिखिर पर चढ़ा हुआ
क्या मैं नीचे उतरने का स्वप्न देख सकता हूं ?
आह ! चिर-आकांक्षाएं हृदय को विदीर्ण कर रही हैं।"

इसके पश्चात चार वर्ष का समय ली-पो के लिए अत्यन्त कष्टप्रद रहा। 761 ई० में वे नानकन के समीप किसी गांव में अपने मित्र के साथ रहने लगे। उनकी ख्याति अब चारों ओर फैल चुकी थी। चीनी जनता ने ली-पो की प्रतिभा को पहचान

लिया था। वे जहां भी जाते लोग उनके दर्शनार्थ उमड़ पड़ते। 761 ई० में इसी गांव में कवि का देहान्त हो गया।

ली-पो की रचनाएं प्राय: यूरोप की सभी प्रमुख भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। 1956 ई० में चीन में इनके सभी ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन किया गया और सविस्तार समीक्षा की गई। अंग्रेजी भाषा में जोसेफ रडकिन्स ने इनकी कविताओं का अनुवाद किया जिसका प्रकाशन 'जनरल आफ पिकिंग ओरीयंटल सोसायटी' द्वारा 1888 ई० में हुआ।

जीवन की असफलताओं ने ली-पो के भावुक हृदय पर काफी असर डाला। उनका काव्य भी अपने को इस उदासी से मुक्त नहीं रख पाया है। 'पतझड़' शीर्षक कविता देखिए—

छाई है उदासी पतझड़ की हवाओं में
गिरे थे जो पत्ते उड़े मिल कर सारे
हुए वह इकट्ठे।
बना ढेर उनसे मगर फिर से उड़ के
हवाओं में बिखरे कहां है? कहां हैं?
बता तू कहां हैं?
मेरे दिल की मस्ती बता तू कहां है।
मुझे कब नजर आएगी तेरी सूरत?"

विद्रोह के दिनों में ली-पो ने जो कुछ लिखा उसका विषय था अशान्ति।

ली-पो की इच्छा थी कि मृत्यु के पश्चात उन्हें 'हरे-टीले (स्थान विशेष) पर दफनाया जाए, किन्तु किन्हीं कारणों से ऐसा न हो सका। उनके अवशेषों को 'असवर' पहाड़ी पर गाड़ा गया। बाद में तत्कालीन गवनर ने उस पर स्मारक बनवाया। ली-पो की मृत्यु के 93 वर्ष बाद 855 ई० मे जब चीन के एक सुप्रसिद्ध सन्त कवि उनके स्मारक के दर्शन के लिए पहुंचे तब उसे अर्द्ध-खंडित अवस्था में पाया। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक कविता की रचना की जो चीन में बहुत प्रसिद्ध हुई—

"सांई शेख नदी के तट पर ली-पो की ढेरी है
दूब के उन क्रमहीन मैदानों के बीच
जो बादलों वाले आकाश के नीचे फैलते चले गए हैं
आह, घास-फूस से ढकी हुई उस धरती के गर्भ में
उस मनुष्य के अवशेष पड़े हैं
जिनकी रचनाओं ने एक समय था कि
चारों दिशाओं में धूम मचा दी थी सभी कवि अभागे हैं
किन्तु ऐ चीन के गौरव !
तुझ से बढ़ कर अभागा कोई नहीं!"

881 ई० में कवि के अवशेषों को 'हरे टीले, पहुंचाया गया।

शताब्दियां बीत जाने पर भी ली-पो की लोकप्रियता में कोई अन्तर नहीं आया और वे आज भी चीन के राष्ट्र कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं।

—माणक चौक, जोधपुर (राजस्थान)

(पृष्ठ 35 का शेषांश)

तरह उसका सहारा बनने की बात सोच मुझे लग रहा था, इस सब में एक विशेष आनंद आ रहा है मुझे। लेकिन मन के किसी कोने में अपराध-बोध जैसी कोई अनुभूति सहसा मन को टीसने लगी बुरी तरह। पिताजी को आक्सीजन दिया जा रहा है। डॉक्टरों ने डबल ऑपरेशन की बात कही है। सुनते ही हस्पताल के कारीडार में मां बेहोश हो गई है। आखिर शैल ही डाक्टरों-सर्जनों की मिन्नत खुशामद कर के आपरेशन रुकवा देती है। ऐसा दो-तीन बार हुआ होगा। पिताजी जैसे हमें छोड़ कर जाने वाले हैं, ऐसा सोचकर घर में एक-दो बार रोदन भी मच गया होगा, और ऐसे रुला देने वाले क्षणों में मेरी आंखें कभी नम न हुई हों, ऐसा नहीं है। एक बार छोटा भाई देबू किसी इटर्व्यू पर दिल्ली से बाहर गया हुआ था, तब मैं एक रात हस्पताल में भी रहा था पिताजी के पास। लेकिन घर में आधी रात पिताजी के दर्द से रोने-चिल्लाने की आवाज सुन, बिस्तर से उठने की जहमत भी कभी मैंने उठाई हो, ऐसा याद नहीं पड़ता, मन में इस बात के प्रति आश्वस्त, कि शैल उठेगी ही, बरामदे से देबू भी जाग गया है, मैं आंखें मूंदे केवल दर्द की आवाजें शांत होने की प्रतीक्षा करता रहता। मेरी दिनचर्या दिल्ली मे भी यही है। दफ्तर से निकलना पांच बजे, लेकिन घर रात बारह बजे से पहले न पहुंचना। केवल महानगर की आवारगी और बुनिया जहान के धक्के।

हस्पताल से लौटते-लौटते साढ़े बारह बज गए। बाबूजी के पैर और टांग के निचले हिस्से में पलस्तर चढ़ाना पड़ा। फ्रेक्चर तो नहीं था, लेकिन हड्डी में चोट ज्यादा लगी थी। अंदर मांस बढ़ गया था। इसलिए पलस्तर जरूरी था।

माता जी कोने में खाना गर्म करने लगी तो मैंने मना कर दिया। जाते-जाते माताजी बोली—बाबूजी तेरी बहुत तारीफ कर रहे थे बेटे। तू न होता तो मैं घबरा जाती बुरी तरह। मैंने बत्ती बुझा दी तुरंत। इस समय अनायास माताजी की प्रशंसा पर खीझ हुई मुझे। जैसे यह सब एक ढकोसला हो, जिस की चपेट में माताजी और बाबूजी अनायास आ गए हैं। वर्ना मैं तो दरअसल एक निहायत ही कमीना, मुखौटेबाज और जलील इन्सान हूं। अपने जन्म-जात संबंधों के प्रति मुझ जैसा व्यक्ति एक ठंडी आश्वस्तता लेकर जीता हैं। बस राजी-खुशी का समाचार सुन कर खुश और दु:ख की खबर सुनकर दुखी। लेकिन दुनिया जहान में कहीं संबंध जुड़ते ही रातोंरात देवता बन जाने का एक सोशल-स्टंट।

× × ×

बत्ती बुझा कर चारपाई पर लेट गया मैं। इस समय भूख शायद मर चुकी थी। मैंने आदतन एक सिग्रेट सुलगा ली। सहसा महसूस हुआ कि जैसे पिताजी अभी-अभी नींद से जाग दर्द से रो कर मुझे पुकारने लगे हैं। और इस समय उनसे कई मील दूर, मेरा मन उनकी इतने अर्से से चली आ रही यातना को इस एक क्षण में महसूस कर बुरी तरह फफक जाना चाहता है।

—मानव स्थली स्कूल, आर ब्लाक, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली-60

कहानी

रेल में

अमरेंद्र मिश्र

जनता एक्सप्रेस रघुनाथपुर स्टेशन पर दो बजकर तीस मिनट पर आई थी — ठीक अपने नियत समय पर। मुझे ट्रेन के इस तरह ठीक समय पर आने से थोड़ी हैरत हुई थी। मेरे विचार से गाड़ी को तीन-चार घंटे लेट आना चाहिए था। कुछ समय के लिए मैं गाड़ियों के टाइमटेबल पर सोचने को मजबूर हो गया कि आए दिन गाड़ियों के समय में कितनी गड़बड़ियां हुआ करती हैं। मुझे प्लेटफार्म की फर्श पर सोए उन लोगों के प्रति सहानुभूति हो आई थी जो अपने-अपने गंतव्य की ओर जाने के लिए जाने कब से प्रतीक्षारत थे। मुझे यह अनुमान लगाते तनिक भी विलंब नहीं हुआ था कि इन सब की अपनी-अपनी यात्राओं के लिए आने वाली गाड़ियां काफी विलंब से आ रही हैं—यानी कोई गाड़ी चार घंटे कोई छह घंटे और कोई आठ घंटे तक विलंब से आएंगी। इसलिए मेरी गाड़ी के ठीक नियत समय पर आने से मुझे प्रसन्नता के बदले थोड़ी हैरानी ही हुई थी।

मैं झटपट थ्री टायर के एक कंपार्टमेंट में चढ़ गया। अभी दो दिन पूर्व मैं दिल्ली से कोई दो वर्ष बाद अपने गांव आया था और लौटना जल्दी था इसलिए गाड़ी में आरक्षण वगैरह करवा नहीं सका था। बहरहाल मैंने निर्णय किया था कि रास्ते में कहीं आरक्षण करवा लूंगा और अगर नहीं मिलेगा तो देखा जाएगा। कुल मिलाकर मुझे दिल्ली लौटना था।

वह कंपार्टमेंट एक लंबे गलियारे की तरह था। लोग खचा-खच भरे पड़े थे। तिल रखने की भी जगह नहीं थी कहीं भी। मैं थोड़ा आश्वस्त हुआ, यह सोचकर कि मुझ जैसे यहां कई लोग हैं।

मैं अपना सूटकेस लिए भीड़ को चीरता आगे बढ़ा जा रहा था और खीजी दृष्टि से कहीं थोड़ी-सी भी जगह तलाश रहा था ताकि बैठने की भी जगह मिल पाए। गाड़ी रघुनाथपुर से कब की छूट चुकी थी। मुझे ऐसे लोगों पर गुस्सा भी आ रहा था जो बड़े आराम से सीटों पर पांव फैलाए बैठे थे और वे मेरी स्थिति देखकर तनिक भी लिफ्ट नहीं दे रहे थे। फिर मैं यह सोचकर सामान्य हो आया था कि अगर उनकी जगह मैं भी होता तो संभवतः यही करता।

"भाई साहब क्या यह ऊपर वाला स्लीपर खाली है?"

वह एक फौजी था जो नीचे वाली सीट पर बैठा था। फौजी की पत्नी बला की खूबसूरत थी। उसके दो बच्चे थे और खिड़कियों के सहारे खड़े होकर बाहर के दृश्य देखने में मग्न थे। उस फौजी ने मेरी तरफ थोड़ा गौर से देखा। शायद मैं उसे एक निहायत शरीफ आदमी लगा होऊं, इसीलिए काफी देर की चुप्पी और इधर-उधर देखने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से बोल पाया— 'हां है तो खाली ही? क्यों?'

"जी, दरअसल मुझे दिल्ली जाना है और मेरा आरक्षण नहीं है। मैं बीच में कहीं करवा लूंगा। अगर आप इजाजत दें तो .. ।'

'आप ऊपर चले जाइए', —फौजी बोला। हालांकि इस बार उसकी पत्नी ने भी मेरी ओर देखा और उसकी दृष्टि मुझे किसी खूबसूरत शावक की दृष्टि सी बिलकुल मासूस लगी थी।

उस खाली स्लीपर पर लेटा हुआ मैं अपने गांव के बिषय में सोच रहा था। चुप, खामोश। किंतु गांव जाने और फिर तुरंत लौट आने का मोह मुझे भीतर से रुला रहा था। फिर मैंने अपनी आंखें मूंद लीं और कंपार्टमेंट के शोर में खो गया।

'सुनिए, यहां मेरे हसबैंड बैठे हैं—अभी जरा टॉयलेट गए हैं, आप कहीं और जगह तलाश कर लें।'

वह एक महिला थी—बहुत मोटी। जहां उसका पति बैठा हुआ था, वहीं एक नवयुवक इतमीनान से बैठ गया। मुझे थोड़ी हंसी आयी। उस मोटी महिला ने उस नवयुवक को फिर वही वाक्य कहा किंतु वह टस से मस नहीं हुआ।

'बड़े बद्तमीज आदमी हो!' इस बार वह मोटी महिला थोड़ा कड़की। आखिर हमने तुम्हीं लोगों के लिए तो रिजर्वेशन नहीं करवाया! हद हो गयी शर्म की।'

'ऐ मेम साब बहुत आलतू फालतू बोल रही हो। चुपचाप बैठी रहो।'

'क्यों? यह सीट तुम्हारी है क्या?'

'तो तुम्हारे बाप की है?'

'देखो जबान संभालो! बद्तमीज कहीं के।'

'ज्यादा बोलोगी तो सामान सहित खिड़की से बाहर फेंक दूंगा।'

'बड़े आए सामान फेंकने वाले। हम कोई अकेले हैं क्या?'

.....

इसी बीच उसका पति आ गया। उसने दोनों के झगड़े में बीच-बचाव किया।

फिर बड़े ही आग्रहपूर्वक ढंग से पूछा—'भाई साहब आप कहां तक जाएंगे?'

'मुगलसराय तक'

'कोई बात नहीं, हम ऐसे ही सफर काट लेंगे।'

रात के कोई 9 बजे होंगे। इसी वक्त कंपार्टमेंट में महिला कंडक्टर आ गयी। मैंने देखा, कुछ लोग उसके पीछे-पीछे घूम रहे हैं। मैं अपने स्लीपर पर उठकर बैठ गया और प्रतीक्षा करने लगा कि कब वह महिला कंडक्टर मेरी तरफ आवे और मैं स्लीपर रिजर्व करा लूं। इतने में उस फौजी ने ऊपर झांककर मुझसे कहा—

'इस तरह प्रतीक्षा करने से तो आपको रिजर्वेशन मिल गया। दो-चार-दस रुपए उस कंडक्टर को अलग से दे दीजिए फिर काम हो जाएगा। दिल्ली तक आपको जाना है—लंबा सफर है, स्लीपर तो चाहिए ही आपको ?'

'चाहिए तो, किन्तु मैं उसे पैसे नहीं दूंगा। और मैंने फिर ज़िद ठान ली कि मैं किसी भी स्थिति में उस महिला कंडक्टर को फालतू पैसे नहीं दूंगा। इस बीच वह कंडक्टर मेरे स्लीपर के पास खड़ी थी। मैंने अनुरोध किया कि वह खाली स्लीपर मुझे दे दे। पहले उसने बहाना बनाया कि वह 'आलरेडी रिजर्व है' किंतु जब मैंने फिर दूसरे ढंग से यह आग्रह किया कि मैं पत्रकार हू—दिल्ली जा रहा हूं और मेरा पहुंचना बहुत जरूरी है तो पता नहीं कैसे उसने सिर्फ उतने ही पैसे लिए जितने रिजर्वेशन के होने चाहिए। वह फौजी आश्चर्य-सा सब कुछ देखता रहा। उसे शायद पहली बार यह देखने को मिला था कि रिजर्वेशन ऐसे भी होता है। वह महिला कंडक्टर यात्रियों के टिकट चैक करती आगे बढ़ती जा रही थी। एक यात्री अपने स्लीपर से उतरकर पान-बीड़ी के लिए एक स्टेशन पर उतरा। उस स्टेशन का नाम रात होने की वजह से मैं पढ़ नहीं पाया था। वहां उस कंपार्टमेंट में आठ-दस कालेजिएट घुस आए। उनमें से एक लड़का जो मुश्किल से सोलह-सत्रह साल का रहा होगा, उन महाशय के स्लीपर पर बैठ गया और सिगरेट फूंकने लगा।

'आप कृपया नीचे उत्तर जाएं'—उन सज्जन ने कहा।

'नहीं उतरेंगे।'

तुम अभी उतर जाओगे।'

'हम नहीं उतरेंगे।'

'नहीं उतरोगे ?'

'नहीं उतरेंगे। जो करना है, कर लो।'

'मैं उतार के रहूंगा तुम्हें।'

'हम नहीं उतरेंगे। आप इस इलाके में नया आए हैं।'

'मत उतरना अशोक। साले हेंकड़ी जमाते हैं। लगता है, इनके बाप की गाड़ी है। कालेज के उन लड़कों में से एक बोला।

इस पर तू-तू मैं-मैं हो गयी। उन सज्जन ने उस महिला कंडक्टर से शिकायत की किंतु कोई हल नहीं निकला। बाद में उन लड़कों ने एक बूढ़िया के पूरे दो किलो पेठे खा लिए।

× × ×

आप यहां नहीं लेट सकते महाशय। मैं फिर कहता हूं कि आप अपना कहीं और बंदोबस्त कर लें। आखिर रिजर्वेशन क्यों करवाया जाता है। एक यात्री दूसरे को फटकार रहा था।

'क्या हुआ भाई ?' किसी ने पूछा।

'देखिए भाई साहब, मेरी पत्नी नीचे वाले स्लीपर पर सोई पड़ी है और ये सज्जन कहते हैं कि ये यहां फर्श पर ही सोएंगे। अब आप ही बताइए, यह भी कोई बात हुई ? अजीब जमाना आ गया है। लोग रिजर्वेशन इसलिए करवाते हैं कि शांति के साथ यात्रा पूरी करेंगे। लेकिन अब इन जैसों को क्या कहा जाए....

'आप अभी भी उठते हैं या नहीं ?'

'तुम चुपचाप सो जाओ। साले तुम्हारी बीवी कहीं भागी जा रही है क्या ? वह अपनी नींद में है, मैं अपनी जगह हूं। अगर इतनी शंका है तो साले रातभर पहरेदारी करते रहो।'

और वह आदमी सचमुच जागता रहा—रात भर।

× × ×

सुबह हो आयी थी। रात वाला तनाव अब कंपार्टमेंट में मौजूद नहीं था। बल्कि वे, जो रात में आपस में लड़-झगड़ रहे थे, अब आपस में बतिया रहे थे। मुझे लगा, यह गाड़ी नहीं कोई सराय घर है जहां हर कोई अजनबी और अनपहचाना, अनजाना है। अगर कोई पहचान है तो बस यही कि लोग आपस में धक्कमधुक्की कर लेते हैं। व्यक्ति की यह 'पहचान' शायद आदमी को स्वयं भी अच्छी नहीं लगे, हालांकि हुआ यही। होता यही है। मुझे दिल्ली की डी० टी० सी० की बसों का ध्यान हो आया जिसमें सफर कर रहे जेबकतरे आसानी से अपना काम कर लेते हैं, कोई चूंचपड़ भी नहीं करता।

ट्रेन अपनी रफ्तार में बेतहाशा भाग रही थी। यह तो तय था कि ट्रेन को जिस वक्त दिल्ली पहुंचना होगा, तभी पहुंचेगी। यात्रा की थकान और बोरियत से उबरने के लिए अक्सर लोग जल्दी अपने गंतव्य तक पहुंचना चाहते हैं और मेरे साथ भी कुछ वैसी ही जल्दबाजी थी...

अब मैं फौजी की सीट के सामने वाली सीट पर बैठ गया था। वह अब भी मुझे आश्चर्य-सा देख रहा था—शायद वह रात वाली घटना याद कर रहा था कि कैसे बिन फालतू पैसे दिए मुझे रिजर्वेशन मिल गया ? मैं हल्का मुसकराया और अपने साथ बैठे परिवार की ओर मुखातिब हुआ। वह परिवार गरीब लगता था। एक अदद पिता, उम्र कोई तीस-पैंतीस के करीब। चार बच्चे। एक लड़का जो सबसे बड़ा था—तीन लड़कियां—चार से एक वर्ष के भीतर। उसकी पत्नी ठेठ देहातिन थी। उसकी गोद में एक नवजात शिशु था—यही कोई तीन महीने का रहा होगा। वह परिवार हावड़ा से आ रहा था और विंध्याचल जाने वाला था। उस औरत की गोद में वह बच्चा किलकारियां मारकर हंस रहा था। खूब खेल रहा था। औरत भी बहुत प्रसन्नतापूर्वक उसकी हंसी-खेल में तल्लीन थी। मेरे राजा बेटा ! मेरे लल्ला ! मेरे कलेजे के टुकड़े... धीरे-धीरे खेलने के बाद बच्चा सो गया। किंतु यह क्या ? कोई तीन घन्टे बाद...

जब उसकी मां ने दूध पिलाने के लिए बच्चे को उठाया तो उसकी गर्दन लटक गयी। उसका मुंह खुला हुआ था और आंखें बंद थी। वह औरत गला पकड़ कर रोने लगी। आस-पास बैठे क्या लोग भौंचके रह गए। इस तरह भी मौत किसी को

छल लेती है। वह औरत छाती पीट रही थी। अब से ठीक तीन घंटे पहले जिन संबोधनों से वह बच्चे को हंसा-खेला रही थी अब उन्ही संबोधनों के द्वारा अपना दुःख प्रकट कर रही थी। कई लोग इकट्ठा हो गए। किसी ने कहा—'बेचारे को लू लग गयी है, गर्मियों के दिन हैं और लंबा सफर है।' किसी ने कहा—'पानी पिलाकर देखें, कहीं कुछ सो जाए। कोई कहता था—भइया अब तो जो होना था, हो ही गया। रोने पीटने से भला क्या बनने वाला। आदि-आदि।

बच्चे का पिता उसके सारे शरीर को पानी से पोंछ रहा था। वह उसे पानी पिलाता था तो पानी नाक से बाहर चला आता था। वह मूंदी हुई आंखों को पानी से मलकर खोलना चाहता था किंतु वह निश्चेष्ठ पड़ी हुई थीं। कभी वह बच्चे की नाड़ी देखता, कभी उसके नाक में फूंक मारता कि शायद चेतना लौट आए।

किंतु कहीं कुछ नहीं हुआ। पिता अंदर ही अंदर रो रहा था। शायद वह अपने घर होता तो उसी प्रकार रोता जिस प्रकार उसकी पत्नी रो रही थी। उसकी पत्नी ने इस बीच बच्चे को दूध पिलाने की कोशिश की किंतु सब व्यर्थ। अंत में बच्चे को एक चादर ओढ़ा दी गई और पति पत्नी को निश्चिंत हो जाना पड़ा कि अब कोई प्रयत्न व्यर्थ है। किंतु पति को शायद विश्वास ही नहीं हो रहा था कि ऐसे भी हो सकता है। वह चादर के भीतर अपना हाथ डालकर बच्चे के हाथ की नाड़ी को बार-बार देखता था। अंत में उसने लिपटी हुई चादर में बच्चे की लाश को पत्नी की गोद में रख दिया।

अब उसकी पत्नी पहले से कहीं अधिक रो रही थी। वह चादर उठाकर बच्चे के गोरे चेहरे को एक बार देख लेती और फफक-फफक कर रो पड़ती। बच्चा ऐसा लगता था, मानो अभी सो रहा है और कुछ क्षणों के पश्चात जाग जाएगा। किंतु वास्तविकता कोसों दूर थी।

विंध्याचल स्टेशन आने पर पति ने अपना सारा सामान उतार लिया। जिन लोगों ने आश्वासन दिया था कि वे उसका सामान उतार देने में उसकी सहायता करेंगे, वे अपने-अपने काम में मशगूल हो गए थे। मुझे यह देखकर एकदम ताज्जुब हुआ कि चार यात्री जो चार घण्टों से ताश खेल रहे थे और उन्हें पता था कि ऐसी घटना घटी है, फिर भी वे इससे निरपेक्ष होकर ताश खेलते रहे थे। बहुत दूर बैठे एक सज्जन ने दूसरे से पूछा था कि भई बात क्या थी, किसी औरत के रोने की आवाज अभी-अभी सुनाई दे रही थी? तो दूसरे ने पान की गिलौरियां दबाते हुए बेफिक्री से जबाब दिया था—'वह ऐसा था कि एक बेचारी का बच्चा मर गया था...बेचारा बड़ा सुंदर था। फूल की तरह। बड़ी रोती थी बेचारी।

'मौत पर किसका वश चला है भाई।'

मैं इस घटना से इतना उद्विग्न हुआ कि शेष सफर काटे नहीं कटता था। दिल्ली आने में अभी कोई सात-आठ घंटे शेष थे। बहरहाल मैंने तय कर लिया कि दिल्ली पहुंचने के बाद मैं एक दिन का उपवास रखूंगा और ईश्वर से प्रार्थना करूंगा कि एक छोटे से नवजात शिशु को मौत न दे। बल्कि अच्छा यह होगा कि वह उसे इस दुनिया में ही न भेजे। लेकिन तभी मुझे अपने नास्तिक होने का ख्याल आया और मेरे चेहरे पर दैवी सत्ता के प्रति विद्रूपता की लकीर खींच आई।

रेल गाड़ी चलती रही।

—18-24/25 ओल्ड गोविंदपुरा, कृष्णनगर, दिल्ली-110051

(पृष्ठ 8 का शेषांश)

यदि तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन भी 'विश्व तमिल सम्मेलन' या विश्व तेलुगु सम्मेलन' की भांति केवल एक भाषा और साहित्य के आधार पर ही संपन्न होगा तो हिंदी को कुछ प्रदेशों की भाषा के रूप में ही मान्यता मिल सकती है न कि संपूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में। संविधान के अनुसार हिंदी भारत की राजभाषा है, सभी अन्य भारतीय भाषाओं को अपने साथ लेकर उसे भारत की राष्ट्रभाषा बनना है सभी भारतीय भाषाओं की वाणी उसके माध्यम से मुखरित होना आवश्यक है। इसलिए इस सम्मेलन में सभी भारतीय भाषाओं के विद्वान एवं साहित्यकारों को भाग लेने की सुविधा मिलनी चाहिए। तभी राजभाषा हिंदी की लोकप्रियता बढ़ सकती है और सभी भारतवासी हिंदी भाषा एवं साहित्य की समृद्धि से आत्मीयता स्थापित कर सकेंगे।

—एल० आई० जी० 29, एम० वी० पालेम कालनी,
विशाखापट्टनम-530017

(पृष्ठ 30 का शेषांश)

वह बहुत उम्दा आदमी है। यह मुमकिन नहीं है, उतरो... उतरो नाग्योल।"

:'गाड़ी चलाओ," पुलिस कप्तान ने तीखी आवाज में गाड़ी में बैठते ही कहा। परंतु चोक्या ने घोड़ों की लगाम पकड़ डाली।

"कृपा कर कुछ देर रुको कप्तान। यह मुमकिन नहीं है, इस आदमी की बीवी है, बच्चे हैं। डेमिर।" उसने चौकीदार को संबोधित किया, "दौड़ो और दौड़ कर नाग्योल की बीवी को बुला लाओ। भाग कर...।"

"चलाओ गाड़ी," कप्तान ने फिर दुहराया।

"कहां...,शहर की ओर ?"

"नहीं, न्यायालय की ओर।"

गाड़ी तेजी से आगे बढ़ी। पनचक्की की ओर से एक पतली सी औरत, वक्त से पहले मुरझाई हुई औरत दौड़ी। वह नाग्योल की बीवी थी। पहले उसने बिना समझे सुना कि क्या कहा जा रहा है और घोड़ा गाड़ी की तरफ पागल-सी दौड़ पड़ी किंतु फिर रुकी और खुद को जमीन पर गिराती अपने हाथों से अपना चेहरा छिपाती वह जोरों से रोने लगी।

—अनु० गंगा प्रसाद विमल
36/53 रामजस रोड करोल बाग, नई दिल्ली-110005

लघुकथा

अपना-अपना रंग

नरेंद्र वर्मा

जयकांत और रामनरेश सचिवालय स्थित एक मंत्री के कक्ष से बाहर निकले तो बड़े प्रसन्न थे। दोनों तेजी से कदम बढ़ाते हुए सचिवालय भवन से बाहर आए। जयकांत ने मुस्कराकर

रामनरेश से हाथ मिलाया और उसके कान में कुछ कहा। रामनरेश खुशी में उछलकर बोला, "मान गये लोहा बॉस। अब काम बन गया। छह महिनों से चक्कर लगाते-लगाते जूते घिस गए थे। चलो, इसी खुशी में पान हो जाए।

रामनरेश पान की दुकान की ओर बढ़ने लगा तो जयकांत ने जोर से उसका हाथ खींचकर कहा, "बस।"

"नहीं यार। "रामनरेश बोला, "पहले जरा पान तो हो जाए, फिर जमकर होगा। क्यों घबराते हो। चलो तो मेरे साथ।"

दोनों पान खाकर तेजा से डग भरते हुए सचिवालय का उत्तरी फाटक पार कर एक नए रिक्शे पर धम से बैठ गए। रिक्शाचालक ने पूछा, "कहां?"

"गांधी मैदान। जरा तेजी से। "जयकांत ने कहा। क्षण भर में रिक्शा तीव्र गति से चल पड़ा। दोनों हंसते– मुस्कराते तरह-तरह की बातें करने लगे। जब रिक्शा गांधी मैदान के पूरब एक शानदार होटल के सामने पहुंचा तो जयकांत बोला, "बस, बस, यहीं उतार दो।"

रिक्शा चालक ने ब्रेक दबाया और रिक्शे को थोड़ा बांए करके रोक दिया।

दोनों धड़ाधड़ उतर गए। रामनरेश ने रिक्शाचालक को डेढ़ रुपए देकर आगे बढ़ने लगा तो रिक्शाचालक ने टोका, "यह क्या बाबूजी?"

"तो?"रामनरेश रुक गया।

'कुछ और दे दो यार। इन लोगों को जितना भी दो, मन नहीं भरता।"जयकांत ने टिप्पणी की।

"मन भरने की क्या बात है। मैं तो जायज भाड़ा माँग रहा हूं।" रिक्शाचालक खिन्न स्वर में बोला।

"जायज भाड़ा कितना हुआ?" रामनरेश ने पूछा।

"डेढ़ रुपए तो स्टेशन तक के हुए। वहां से यहां तक का कम-से-कम एक रुपया और दीजिएगा न। फिर रिक्शा भी कितनी तेज चलाकर ले आया हूं। आपको खुद ख्याल करना चाहिए। "रिक्शाचालक ने आजिजी के स्वर में कहा।

इस पर रामनरेश ने उसे एक रुपया और देते हुए हंसकर कहा, "अच्छा, यह लो। खुश हुए न? अब तो चेहरे पर खुशी लाओ।"

रिक्शाचालक थक गया था। चुपचाप जब रिक्शा आगे बढ़ाने लगा तो जयकांत ने उसे इशारे से रोककर रामनरेश से कहा, "ब्रदर, अब इसे ढ़ाई रुपया और दो, तब यह खुश होगा।"

दोनों ने मानो उसे खुश करने की जिद्द पकड़ ली थी। रामनरेश ने जब सचमुच उसकी ओर ढ़ाई रुपए बढ़ा दिए तो रिक्शाचालक एकबारगी खीज उठा, "मजाक मत कीजिए। इसमें खुश-नाखुश होने की क्या बात है? मैं आपसे बख्शीश थोड़े मांग रहा हूं; अपनी जायज मजदूरी मांग रहा हूं। वह मुझे मिल गई। रखिए अपने ढ़ाई रुपए। "यह कहकर वह उछलकर अपनी सीट पर बैठ गया और रिक्शा आगे बढ़ा ही रहा था कि जयकांत ने चुहल की, "अच्छी उर्दू बोल लेते हो।"

रिक्शाचालक से न रह गया। रिक्शा रोककर बोला, "जी हां। अच्छी अंग्रेजी और हिंदी भी।"

जयकांत ने हंसकर कहा, सचमुच?"

रिक्शाचालक तैश में आ गया। तेजी से अपनी सीट से उतर पड़ा और रिक्शे की सीट हटाकर उसके नीचे से शीशे के फ्रेम में मढ़ी हुई कोई चीज निकालकर जयकांत के हाथ में रखता हुआ बोला, "देखिए, तबसे खामखाह मजाक किए जा रहे हैं।"

जयकांत और रामनरेश ने विस्फारित नेत्रों से उसे देखा और देखकर अवाक् रह गए। वह रिक्शाचालक के बी० ए० का सर्टिफिकेट था। तभी वहां पर खड़े एक व्यक्ति ने जयकांत के हाथ से उसे लेकर देखा और विस्मित होकर रिक्शाचालक की ओर ताकने लगा। रिक्शाचालक ने उसके हाथ से सर्टिफिकेट ले लिया। जल्दी से रिक्शे की सीट हटाकर उसे उसके नीचे रखा और अपनी सीट पर बैठकर तेजी से पैडिल मारता हुआ आगे निकल गया।

—20/2 ए, गर्दनी बाग, पटना-800002

(पृष्ठ 1 का शेषांश)

मिलना ही था, और वे इसे प्राप्त कर हिन्दी विरोधी भावना उभार भी रहे हैं। दक्षिण के प्रकाशक हिंदी का साहित्य पर्याप्त रूप में उपलब्ध कर रहे हैं, लेकिन हिंदी के कितने प्रकाशक तमिल, तेलगु, कन्नड़, मलयालम का साहित्य हिंदी में उपलब्ध कर रहे हैं? ऐसे हिन्दी प्रकाशक उंगली पर गिने जा सकते हैं।

तो दोष किसका, हिन्दी भाषियों का हिन्दी तहर भाषा-भाषियों का? दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार-प्रसार पर विचार करते समय क्या तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन इस मुद्दे पर भी यथोचित ध्यान देगा? ●

सार्वजनिक उपक्रमों में हिन्दी

डा० शेरजंग गर्ग

सम्पूर्ण देश में केन्द्र सरकार के अपने लगभग दो सौ उपक्रम हैं। इसके अलावा विभिन्न राज्यों की सरकारों द्वारा संचालित संस्थानों की संख्या भी कम नहीं है। सरकारी बैंकों के मुख्यालयों से लेकर महानगरों, नगरों, कस्बों तथा गांवों में उनकी असंख्य शाखाएं सारे देश में फैली हैं। सरकारी उपक्रम, कारखाने अथवा संस्थान हवाईजहाजों, जलपोतों से लेकर टरबाइनों, बायलरों, जेनरेटरों, रेल के इंजनों जैसी बड़ी-बड़ी चीज़ों का निर्माण तो करते ही हैं, घड़ियों और जूतों तक का व्यापार भी करते हैं। इतना ही नहीं भारत के अतिरिक्त उनका कारोबार संसार के अनेक देशों में फैला हुआ है। हमारे लिए यह गर्व का विषय है कि आज भारत सरकार के विभिन्न उपक्रम संसार भर में अपनी कार्यकुशलता, तकनीकी विशेषज्ञता और निपुणता के कीर्तिस्तंभ बने हुए हैं।

इन सार्वजनिक उपक्रमों में कुछ में तो सौ अथवा उससे भी कम कर्मचारी काम करते हैं, जबकि कई उपक्रमों का आकार इतना विशाल है कि उनमें पचास हज़ार से लेकर दो-दो, तीन-तीन व्यापक एवं लाख की संख्या में कर्मचारी कार्यरत हैं। बड़े उपक्रमों की यूनिटें सहायक कम्पनियां अथवा क्षेत्रीय कार्यालय सम्पूर्ण भारत के अलावा विश्व के प्रमुख देशों में भी स्थित हैं। स्पष्ट है कि इतने व्यापक और बड़े पैमाने पर गठित कम्पनियों में राजभाषा हिन्दी का कार्यान्वयन स्वयं में एक चुनौती भरा किन्तु महत्वपूर्ण कार्य है।

राजभाषा अधिनियम केन्द्र सरकार के कार्यालयों पर पूर्णत: लागू होता है, ठीक इसी प्रकार केन्द्र सरकार की कम्पनियों अर्थात् सार्वजनिक उपक्रमों पर भी राजभाषा अधिनियम की सम्पूर्ण व्यवस्थाएं लागू होती हैं। कायदे से इस अधिनियम में किसी प्रकार की ढील दिए जाने की गुंजाइश नहीं है। गत वर्षों में संसदीय राजभाषा समिति की उपसमितियों ने केन्द्रीय कार्यालयों के साथ-साथ सार्वजनिक उपक्रमों का भी पूरी बारीकी से निरीक्षण किया गया है, जिसके प्रभाव की छाया में बहुत-सी कम्पनियों में कई क्षेत्रों में राजभाषा हिन्दी का प्रवेश हुआ है।

इस दिशा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ है कि प्राय: प्रत्येक उपक्रम अथवा कम्पनी में हिन्दी कक्ष की स्थापना अवश्य कर ली गई है। इनमें से अधिकांश ने हिन्दी अधिकारियों, अनुवादकों, स्टेनोग्राफरों तथा टाइपिस्टों की भर्ती भी कर ली है; तथापि यह संख्या अत्यन्त न्यून है। क्योंकि अभी तक अधिकांशत: हिंदी स्टाफ की संख्या दो अथवा तीन से ज्यादा प्राय: कहीं नहीं है। जहां है, वहां कम्पनी बहुत बड़ी है और इस लिहाज से स्टाफ की संख्या वहां भी नहीं के बराबर है। फिर भी यह नि:संदेह स्वीकार किया जा सकता है कि राजभाषा अधिनियम को कार्यान्वित करने की दिशा में लगभग हर सार्वजनिक उपक्रम में प्रारंभिक तैयारी पूरी कर ली गई है। इन उपक्रमों में हिंदी की कुछ न कुछ प्रगति ज़रूर दिखाई दे जाती है मसलन, पत्रशीर्ष, विज़िटिंग कार्ड, रबड़ की मोहरें और नामपट्ट द्वैभाषिक नज़र आने लगे हैं। यह मात्र विभिन्न उपक्रमों में हिंदी स्टाफ की मौजूदगी के कारण ही हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि संसद के समक्ष प्रस्तुत किए जाने वाले विभिन्न कागज़ात केवल अंग्रेजी में नहीं दिए जा सकते, उन्हें द्वैभाषिक रूप में भिजवाया जाना अनिवार्य है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रत्येक उपक्रम को उक्त सामग्री द्वैभाषिक कराने के लिए हिन्दी स्टाफ की भर्ती करनी पड़ी है। जहां ऐसा नहीं हुआ है, वहां यह कार्य बाहर से कराया जा रहा है तथा हिंदी स्टाफ की नियुक्ति की आवश्यकता को तीव्रता से महसूस किया जा रहा है।

द्वैभाषिक व्यापार चिह्न

भारत सरकार के समस्त सार्वजनिक उपक्रमों को राजभाषा विभाग के सुझावों और राजभाषा अधिनयम के अपेक्षाओं के अनुसार अपने-अपने व्यापार चिह्नों को द्वैभाषिक कराना है। इस दशा में कई उपक्रमों ने अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है। इनमें प्रमुख हैं ; नेशनल हाइड्रो पावर कार्पोरेशन, इण्डियन ऑयल कारपोरशन, इलेक्ट्रानिक कार्पोरेशन आफ इंडिया, पंजाब नेशनल बैंक, अशोक ग्रुप ऑफ होटल्स आदि। इसके अलावा बहुत से उपक्रमों में व्यापार चिह्नों को द्वैभाषिक करने की दिशा में प्रयत्न हो रहे हैं, जो एक शुभ लक्षण है।

प्रशिक्षण की दिशायें

सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा अपने अहिंदी भाषी कर्मचारियों को राजभाषा संबंधी प्रशिक्षण देने के लिए गृह मंत्रालय की हिंदी शिक्षण योजना के अन्तर्गत चलाई जाने वाली हिंदी कक्षाएं संचालित करने के साथ-साथ हिन्दी भाषी कर्मचारियों के प्रशिक्षणार्थ हिन्दी कार्यशालाओं का आयोजन भी किया जा रहा है। इन कार्यशालाओं में कर्मचारियों को राजभाषा अधिनियम की जानकारी देने के साथ-साथ रोज़ाना के कामकाज में हिंदी के प्रयोग की प्रेरणा भी दी जाती है। गत वर्षों में लगभग प्रत्येक उपक्रम में कई-कई कार्यशालायें आयोजित की गईं। इस दिशा में इण्डियन ऑयल कारपोरेशन ने पर्याप्त जोर शोर से काम किया है और अपने सैकंडों कर्मचारियों को इन कार्यशालाओं के माध्यम से प्रशिक्षित किया है।

दुनिया भर में

चूंकि अधिकांश सार्वजनिक उपक्रमों की शाखाएं विश्व के बड़े-बड़े नगरों में स्थित हैं और उनका कारोबार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का है, इसलिए सार्वजनिक उपक्रमों के माध्यम से हिंदी को दुनिया भर में फैलाने की अद्भुत गुंजाइश है। पत्रशीर्षों, व्यापार चिह्नों नामपट्टों तथा हर प्रकार की लेखन-सामग्री को तो कम से कम द्वैभाषिक किया ही जा सकता है। इस प्रकार छपे हुए अक्षरों के माध्यम से हिन्दी की पहचान विदेशियों की नजरों में आसानी से कराई जा सकती है। यह कार्य भी अधिकांश सार्वजनिक उपक्रमों ने प्रारंभ कर दिया है, जिससे दुनिया के समस्त विकसित देशों की नजरों में भारत की राजभाषा की छवि निखर कर आ रही है।

स्वदेश में कार्यान्वयन

सार्वजनिक उपक्रमों को जनता के विशिष्ट वर्गों, विदेशी दूतावासों विदेशी कंपनियों के अतिरिक्त सामान्य जनता के साथ भी कारोबार अथवा व्यवहार करना होता है। यह व्यवहार कर्मचारियों तथा अफसरों के लिए किराये पर लिए गए मकानों के पट्टा करार तैयार करने से लेकर उन्हें जारी किए जाने वाले चैकों तक फैला हुआ है। कई उपक्रमों में इस प्रकार का व्यवहार हिन्दी में किया जाने लगा है। फलस्वरूप, अंग्रेजी में पत्र व्यवहार करने वाले व्यापारियों को हिन्दी में काम करने की प्रेरणा मिली है। ज्यादातर बैंकों में भरे जाने वाले फार्म, चैक आदि द्वैभाषिक हो चुके हैं तथा उन्हें हिन्दी में भरने वालों को किसी प्रकार की कठिनाई होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

राजभाषा कार्यान्वयन समितियां

भारत सरकार के अन्य विभागों के समान सार्वजनिक उपक्रमों में भी राजभाषा कार्यान्वयन समितियों का गठन किया जा चुका है। इन समितियों की तिमाही बैठकों के अद्यतन प्रगति के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करके भावी कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार की जाती है। देखने में आया है कि इन बैठकों में अभी भी अपेक्षित मात्रा में उपस्थिति नहीं होती तथा बैठकों में किए गए फैसलों को आवश्यक सुचारूता से सम्पन्न नहीं किया जाता। कुछ लोग मात्र फैशन के नाम पर बैठकों में आते हैं और अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। राजभाषा कार्यान्वयन समितियों के क्रियाकलापों को अधिक सार्थक बनाने के लिए आवश्यक है कि समिति में भर्ती के सदस्यों के प्रवेश तो रोका जाये तथा श्रेष्ठ, कर्मठ, निष्ठावान सदस्यों को नैतिक प्रोत्साहन प्रदान किया जाए।

'हिन्दी सप्ताह' और 'हिन्दी दिवस'

सार्वजनिक उपक्रमों में समय-समय पर 'हिन्दी सप्ताह' मनाने की परम्परा भी दिन-प्रतिदिन विकसित हो रही है। इसी प्रकार प्रति वर्ष 14 सितम्बर को 'हिन्दी दिवस' भी बहुत-से सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा मनाया जा रहा है। 'हिन्दी सप्ताह' के अवसर पर हिन्दी प्रदर्शनी, वादविवाद, कविता, हस्ताक्षर तथा टिप्पणी और आलेखन प्रतियोगताएं आयोजित करके हिन्दी में कार्य करने की प्रेरणा दी जाती है। स्टील अथारिटी आफ इण्डिया द्वारा प्रति वर्ष हिन्दी नाटक प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है। 'हिन्दी दिवस' पर स्मारिकाएं प्रकाशित करने तथा हिन्दी के निष्ठावान कर्मचारियों को सम्मानित करने का कार्य भी आरंभ हो चुका है।

अभी बहुत बाकी है

सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा 'हिन्दी कार्यान्वयन की दिशा में किए गए बहुत से कार्य नगण्य तो कतई नहीं है, मगर मेरे विचार से राजभाषा हिन्दी को और भी कई क्षेत्रों में पर्याप्त तेजी से लागू किया जाना है। कार्मिक, प्रशासनिक, क्रय, सुरक्षा जनसम्पर्क विभागों में लगभग अस्सी प्रतिशत कार्य ऐसे हैं जिन्हें बड़ी सरलता से द्वैभाषिक रूप में किया जा सकता है। सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा 'सर्वजन' तक पहुंचने के लिए जनता की भाषा को अपनाना एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी और तभी ये उपक्रम अपने नाम को सार्थक भी कर सकेंगे।

—एच-5/15 मालवीय नगर, नई दिल्ली 110017

(आवरण II का शेषांश)

डा० शशि ने भारत सरकार, विशेषत: प्रकाशन विभाग के हिन्दी प्रकाशनों के बारे में भी विस्तार से बताया।

संभवत: अक्टूबर 1983 में चडीगढ़ में वीर राजेन्द्र ऋषि के प्रयत्न से विश्व रोमा पर्व का आयोजन किया जा रहा है, जिसके लिए नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा विश्व हिन्दी सम्मेलन आदि संस्थाएं कुछ रूपरेखा तैयार कर सकती हैं।

बी० बी० सी० हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री कैलाश बुधवार ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि यह पहला अवसर है कि नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य हिन्दी संस्थाओं पर लंदन विश्वविद्यालय में इस प्रकार की विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। उन्होंने बताया कि बी० बी० सी० का हिन्दी विभाग तो सदा ही यथाशक्ति हिन्दी की सेवा करता रहा है और आगे भी करता रहेगा।

गोष्ठी में हिन्दी के उच्चारण तथा वर्तनी आदि के संबंध में खुलकर बहस हुई और विदेशी पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में इस विषय पर और आगे चर्चा करने पर जोर दिया गया।

विचार गोष्ठी में दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोवाइस-चांसलर डा० मल्होत्रा, लंदन विश्वविद्यालय के इतिहासवेत्ता प्रोफेसर डा० पांडे, सुप्रसिद्ध नाटककार श्री विनोद शर्मा, बी० बी० सी० हिन्दी विभाग के अधिकारी श्री ओंकार नाथ श्रीवास्तव, डा० कैलाश गौतम तथा हिन्दी की अंग्रेज छात्रा कु० केती आदि ने भाग लिया।

—बी० बी० सी० (हिन्दी विभाग) लंदन

पुस्तक-समीक्षा

सम्बंधगत वैविध्य की रचना शीलता

(कुछ उपन्यासों का संदर्भ)

इधर हिन्दी का उपन्यास लेखन अधिकतर स्थितिगत (स्त्री-पुरुष संबंधों में) त्रिकोण से आक्रान्त है। आक्रान्त इसलिए कहता हूं कि जिन उपन्यासों में समाज की अन्य समस्याएं प्रमुख रूप से उभरती हैं उनमें भी एक कथा खण्ड स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के भूगोल से संचालित होता है। वैसे सभी घटनाओं का मूर्तन पात्रों के द्वारा होता है और पात्रों में स्त्री-पुरुष होंगे ही। किन्तु, मुख्य प्रश्न संवेदना के पक्ष का है। अर्थात् किसी कथा से, या किसी कथा खण्ड के आन्तरिक अर्थ से लेखक किस आशय की अभिव्यक्ति करता है। और जब हम किसी रचना के संदर्भ में स्त्री-पुरुष संबंध की बात उठाते हैं तो मुख्य आशय होता है कि इस बदलते हुए समाज में लेखक किन्हीं मानवीय प्रसंगों पर एक घनत्वयुक्त सीमित दृष्टिकोण से उंगली रखना चाहता है। वैसे रचना में आया कोई भी प्रश्न, आशय या प्रसंग मानवीय होगा ही क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य समाज से है।

इधर हमारे जीवन में जितनी तेजी से व्यवस्था और सत्ता के संदर्भ में राजनीतिकरण हुआ है — शायद उतनी ही तेजी से—सम्बन्धों का राजनीतिकरण या अमानवीयकरण भी दृष्टिगत होता है। हम जानते हैं कि वर्तमान संश्लिष्ट जीवन में साम्बंधिक प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि अनेक कारणों से उत्तेजित होती है, पर उसमें परस्पर अविश्वास का— एक मुख्य कारण इतना महत्वपूर्ण भाग अदा करता है—कि बहुत कुछ अन्यथा जुड़ा होने पर भी विश्वास के अभाव में सब कुछ छिन्न-भिन्न हो जाता है। संबंधगत व्यावहारिक जीवन में बिखराव के प्रश्न उपस्थित होते हैं...तो स्थितियां टूटती हैं। और जब विश्वास जुड़ता है तो सम्बंध भी गहराई के स्तर स्पर्श करते हैं।

इस दृष्टि से मैं इधर के तीन उपन्यासों पर विचार करना चाहूंगा...। ये हैं—आशीष सिन्हा का "अजनबी इन्द्रधनुष" द्रोणवीर कोहली का "चौखट" नरेन्द्र कोहली का "अभिज्ञान" इन उपन्यासों की सर्जनात्मक अभ्याकांक्षा अपने विषय की परिधि में बृहत्तर जीवन को एक खास दृष्टिकोण से देखने के कारण पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है।

आशीष के उपन्यास "अजनबी इन्द्रधनुष" में एक ऐसी नारी की आन्तरिक-संघर्ष यात्रा है जिसने जितनी उत्फुल्ल अवस्था में जीवन शुरू किया...उतनी ही तनावपूर्ण स्थितियों में जीवन का शेष भाग व्यतीत किया और उसका एक छोर अभी भी अदृश्य है।...कविता और अशोक एक स्थल पर मिलते हैं... अशोक के प्रति कविता का भाव गुणात्मक उतना नहीं जितना उसकी स्थिति से उत्पन्न करुणा जन्य है। फिर भी वे विवाह करते हैं...पिता की इच्छा के विरुद्ध। कविता पिता-भाई को छोड़कर अशोक के साथ जीवन जीने लगती है।...यहां तक बिना किसी संघर्ष के चलता है...पर दोनों के बीच तनाव और अनुभव की निश्छल मैत्री-स्नेह...कविता के मन में द्वन्द्व पैदा करते हैं। और यहीं यह द्वन्द्व दायित्व-बोध और रागात्मक अभ्याकांक्षा के बीच अत्यन्त तीव्र गति से उभरता है। कविता और अशोक के बीच वास्तविक भ्रमभंग, तनाव तब पैदा होता है जब अशोक कहीं न कहीं सम्बंधों को राजनीतिकृत या कहना चाहिए-भ्रष्ट कर देते हैं...कविता के रूप के इस्तेमाल को लाभ का जामा पहना कर वे अपनी अर्थ-गत सम्पन्नता को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं।...

और इस तरह से कविता के सामने पहले दृश्य में चित्रित अशोक का विराट व्यक्तित्व, क्षीण होता जाता है। दूरियां बढ़ती गईं बच्चों के बावजूद बहुत कुछ दोनों के बीच से टूटता चला गया। किंतु अनुपम के निश्छल स्नेह की तरफ जितनी तेज़ी से कविता दौड़ती है, उतनी ही तेज़ी से उनके बच्चे, अशोक की बीमारी .. उसे... स्वप्निल इंद्र धनुषी आकाश से मोड़ कर...

डा० विनय

तपती पारिवारिक दायित्व बोध भरी धरती पर लाकर खड़ा कर देते हैं। कविता दायित्व चुनती है या चुनने पर विवश होती हैं।

आशीष के उपन्यास में असन्तुष्ट मन की खोज के अनेक स्तर हैं पर उनका कोई भी स्तर परिवार की सीमा के बाहर नहीं जाता और अपनी परिधि में ही अपना आशय व्यक्त करता हैं जबकि 'चौखट' में द्रोणवीर कोहली ...दो समानान्तर कथा को बुनते हुए... पारिवारिक परिधि से बाहर भी जाते हैं। उनके उपन्यास में उभरी करुणा अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ को ध्वनित करती है।... चौखट की कथा में कोहली विवाह संस्कार रहित स्त्री पुरुष (दाम्पत्य) संबंध के व्यक्तिगत और सामाजिक औचित्य के मूल प्रश्न को लेकर चले हैं। किन्तु जितने भारी भरकम शब्दों में फ्लैप पर...आदर्श प्रणय सबध और दाम्पत्य के विषय में टिप्पणी की गई है...कथा के आन्तरिक उत्स उतने घनत्व को सृष्टि नहीं करते। सुमित्रा की मित्रता राजी के साथ है किंतु वह 'मनोहर मधुप' के साथ जीवन यापन करने चली जाती है। फिर दो बच्चे होते हैं— किंतु इसी बीच अनबन हो जाती है और सुमित्रा फिर राजी के पास आ जाती है। संबधों को तोड़ने और जोड़ने की सामान्य मानसिकता के भीतर भी सुमित्रा का तनाव व्यक्त हो जाता है। पर, राजी सब कुछ जैसे संयम से, शांति से सहन करता है। सुमित्रा का साथी मनोहर लेखक है और उसे तानाशाही सरकार की जिम्मेवार पुलिस पकड़ ले जाती है। तरह-तरह की यातनाएं देती है। परिणामस्वरूप उसे दोहरी यातना सहनी पड़ती है। साथी के चले जाने की और

निरपराध पिटने की।— वह इतना क्षतिग्रस्त (भीतर-बाहर) दोनों से—हो जाता है कि मृत्यु ही उसकी यातना का अंत करती हैं।

"चौखट" की कथा का यह खण्ड उपन्यास को सीमित रूप में पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका द्वन्द्व से ज्यादा अहमियत देता है। मनोहर केवल मानवीय संबध की त्रासदी नहीं भोगता राजनैतिक या प्रशासनिक अदूरदर्शिता का भी शिकार होता है। पर कथा का यह खण्ड...करुणा के आधार को विस्तृत तो करता है पर मूल संवेदनात्मक आधार में कोई विशेष योग नहीं देता। कोहली ने बहुत खूबी से पुलिस व्यवहार को चित्रित किया है और यहां उनका ध्यान भ्रष्टाचार पर नहीं— अफसरों की नासमझी पर अधिक गया है। और यह उनकी उपलब्धि है।... चौखट में... केयरलेस सुमित्रा और अतिरिक्त संवेदनशील राजी का चरित्र परस्पर विरोधी स्तर पर अंकित है, पर उनकी आन्तरिक बुनावट के सभी सूत्र स्वाभाविक लगते हैं। यह स्वाभाविकता...आशीष के अनुपम और कविता में भी है। इस स्तर पर ये दोनों उपन्यास पाठक की पहुंच को चुनौती न देकर उसके साथ सहयोग करते हैं:—

आशीष और द्रोणावीर ने स्थितिगत त्रिकोण को व्यक्तिगत और सामाजिक आयाम दिए हैं तों नरेन्द्र कोहली ने अभिज्ञान में सुदामा और कृष्ण की मैत्री को लेकर दो विपरीत जीवन चिन्तन की व्यावहारिक असुविधा और कष्ट तथा उनके बीच भौतिक आवश्यकता की अनिवार्यता का संघर्ष दिखाया है। नरेन्द्र का रचनात्मक आशय ज्ञान प्राप्ति या आध्यात्मिक चिंतन और सामान्य पारिवारिक कर्त्तव्य बोध के बीच एक व्यावहारिक संतुलन की अनिवार्यता का प्रश्न उभारता है। सुदामा नित्य प्रति ज्ञानार्जन, चिंतन और दर्शन संबंधी ग्रंथों के प्रक्कथन में व्यस्त रह कर आजीविका के रूप में बहुत कम कमा पाते हैं— फलस्वरूप परिवार आर्थिक कष्ट में रहता है। सुशीला के कहने पर सुदामा की प्रतिक्रिया है कि... "मित्रों और संबंधियों के ऊंचे पदों पर पहुंच जाने पर उनसे अनुचित लाभ उठाने के प्रयत्न को मैंने सदाघृणित कार्य माना है। (पृ० 28) और सुदामा इस विचार पर दृढ़ रहते हैं।...लेकिन लेखक इस स्थिति को अनेक व्यावहारिक प्रतिक्रिया में खोजता है। कोई सुदामा के चिंतनशील रहने को, आलस्यपूर्ण मानता है। उसकी नौकरी न करने पर कटाक्ष करता है और सुदामा सोचते है कि क्या बच्चों से भी यह सब कुछ सुनना पड़ेगा।

"अभिज्ञान" का कथात्मक विकास-विस्तार, केवल दो स्थितियों के द्वन्द्व को रूपायित करने के लिए हुआ है और, इसी बिन्दु पर इस उपन्यास की औपन्यासिक संवेदना की परीक्षा की जानी चाहिए। कहानी नरेन्द्र के लिए आधार मात्र है उसका आधेय है एक जीवन दृष्टि का प्रतिपादन! इसी स्तर पर नरेन्द्र बुद्धिजीवियों की ईर्ष्या, द्वेष को भी सही रूप में रेखांकित करते हैं।...और काशीनाथ के चरित्र में सामान्य मृत्य की मानसिकता की अभिव्यक्ति होती है। नरेन्द्र ने बाबा के चरित्र को ज्ञान और व्यावहारिक जीवन के बीच संतुलन के रूप में चित्रित किया है। साथ ही वे किसी राज पुरुष और आचार्य ज्ञानेश्वर के बीच सामान्य दण्ड धारियों की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति में...सामान्य नागरिकों की मानसिकता को भी सही रूप में उजागर कर पाए हैं। और इस सारे संघर्ष-द्वन्द्व के परिणामस्वरूप सुदामा यह समझ जाते हैं कि... कर्म का फल कर्त्ता तक पहुंचे, मार्ग की बाधाएं हटाई जाएं... कृष्ण अकेला ही क्यों करे यह संघर्ष, सुदामा भी क्यों न करे ?...कृष्ण के लिए कर्म का फल होता है तो सुदामा के कर्म का भी फल होगा।....यह आत्मज्ञान दो स्तरों पर जीवन पद्धति को चित्रित करता है। एक वह जिसमें दर्शनगत विचारधारा... जीवन के व्यावहारिक कर्म सिद्धान्त से संयुक्त होकर एक मानव कल्याणकारी समाज की स्थापना कर सके। ...शायद इसी अभिज्ञान की प्राप्ति के लिए इस उपन्यास की रचना हुई है। दूसरी यह कि अन्याय की सारी शक्तियां एक संकल्प के सामने ढहती जाती हैं। अतः संकल्प शक्ति का पुनः पुनः संघठन करना अपेक्षित है। नरेन्द्र के इस उपन्यास में अनायास ही एक विचार की प्रतिष्ठा हो जाती है कि स्वस्थ राज्य-व्यवस्था और समाज की स्थापना के लिए ब्रह्मशक्ति और क्षात्र शक्ति-दोनों का सामंजस्य आवश्यक है। इस आशावाद में ही "अभिज्ञान" में नरेन्द्र ने मनुष्य की निर्मल और उदात्त शक्ति की स्थापना की है। अभिज्ञान के चरित्रों में सुदामा, कृष्ण, ज्ञानेश्वर.. अपनी अलग-अलग छाप छोड़ते हैं। मुझे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की नरेन्द्र कोहली ने अत्यन्त कलात्मकत के साथ, कथा की संवेदनशीलता और वैचारिक गाम्भीर्य का संतुलन किया है।

इसी कारण वे सुदामा और ग्राम प्रमुख की वार्ता के बाद सुदामा का विस्तृत आत्म चिंतन प्रस्तुत करते हैं और कृष्ण के द्वारा इंद्र के स्थान पर गोवर्धन की पूजा में व्यावहारिक दृष्टि की आश्वस्ति अनुभव करते हैं।...संक्षेप में 'राम कथा पर लिखे गए कोहली के उपन्यासों की तरह ही अभिज्ञान' में तत्व चिंतन के आधुनिक रूप की खोज का प्रयास है। कोहली के मत से असहमत हुआ जा सकता है किंतु उनके तर्क और विश्लेषण विचारणीय अवश्य है। नरेन्द्र कोहली का व्यंग्यकार रूप आचार्य ज्ञानेश्वर के भाषण में व्यक्त होता है। स्थल-स्थल पर जहां नरेन्द्र ने व्यंग्य के माध्यम से बुद्धिजीवियों की स्तुति की है— वे अंश उपन्यास को और भी महत्वपूर्ण बना देते हैं।...कोहली स्थितियों को व्यंग्य से प्रभावशाली बनाते हैं तो आशीष आंतरिक व्यथा के उभार से और द्रोणवीर मन तथा स्थिति के टकराव से। लेकिन इन तीनों उपन्यासों में मर्म के स्थल प्रचुर मात्रा में आते है। नरेन्द्र ने उपन्यास में सुदामा और कृष्ण की कथा के बीच द्रोपदी के चीर हरण प्रसंग को लाकर-कथा संयोजन की कलात्मकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है—इससे कृष्ण की उभरती चिंता में उनका लोक पक्ष स्थापित होता है।—इस

प्रकार जीवन को भिन्न दृष्टिकोण से देखने वाले ये उपन्यास समकालीन चिंता के स्तर पर समान सर्जनात्मक प्रश्नों को उभारते हैं। इनकी समानता सर्जनात्मक स्तर पर अधिक हैं, विषय के चुनाव क्षेत्र भिन्न हैं किंतु द्वन्द्व का मूल स्तर समकालीन है।—

आलोच्य कृतियां:—1. अजनबी इंद्रधनुष: आशीष सिन्हा राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6 2. चौखट: द्रोणवीर कोहली, सरस्वती विहार, जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-32 3. अभिज्ञान : नरेन्द्र कोहली : राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

25 बंगलो रोड, दिल्ली-110007

ध्यातव्य व्यंग्य कृतियां

अजय ब्रह्मात्मज

हिन्दी में व्यंग्य को अपना उचित स्थान अब तक प्राप्त नहीं हो सका है, व्यंग्य का एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकास हाल की घटना है, आरंभ में व्यंग्य एक शैली विशेष था, जिसका साहित्यकार अन्य विधाओं के अंतर्गत उपयोग करते थे, प्राय: सभी बड़े रचनाकार ने अपने साहित्य जीवन में इस शैली विशेष का प्रयोग किया है, हरिशंकर परसाई के रचना कर्म को प्रस्थान बिन्दु के रूप में स्वीकारना होगा, व्यंग्य को विधा विशेष के रूप में प्रतिष्ठित करने में हरिशंकर परसाई का रचनात्मक संघर्ष रहा है। व्यंग्य को प्रतिष्ठा मिली, हरिशंकर परसाई को सम्मान मिला। पर अब भी व्यंग्य को केन्द्र में रखकर कुछ नहीं लिखा जा सका है, यहां तक कि हरिशंकर परसाई के लेखन का वस्तुनिष्ठ परीक्षण और विश्लेषण नहीं हो सका है। व्यंग्य की स्वतंत्र प्रतिष्ठा के लिए कुछ और रचनाकार भी सक्रिय हैं। इनमें मनोहर श्याम जोशी और प्रेम जनमेजय के नाम लिए जा सकते हैं।

1982 में इन दोनों व्यंग्यकारों की कृतियाँ प्रकाश में आईं और चर्चित भी रहीं, दोनों रचनाकार सफल व्यंग्यकार हैं। "नेताजी कहिन" और "बेशर्ममेव जयते" क्रमश: मनोहर श्याम जोशी और प्रेम जनमेजय की सार्थक अभिव्यक्ति है। दोनों रचनायें प्रमुख रूप से नेताओं के झूठे चरित्र का पर्दाफाश करती है। इन राजनेताओं का जनता से दूर-दूर तक संबंध नहीं है। इनके लिए भविष्य एक समस्या है और ये जनता की सेवा को धंधे के रूप में चुनते हैं। अनजाने ही ये राजनीति के पूंजीवादी चरित्र का उद्घाटन कर जाते हैं।

"नेताजी कहिन" का फलक उपन्यास का है। पर यह "राग दरबारी" की तरह व्यंग्य शैली में लिखा उपन्यास नहीं। उपन्यास के कलेवर में व्यंग्य है। संभवत: इसी कारण इसका कथा संगठन पक्ष कमजोर प्रतीत होता है। कथा विकास या विन्यास के स्तर पर कुछ घटनायें हैं, जो एक दूसरे से जुड़े होने के बावजूद पृथक अहमियत रखते हैं। एक और कारण क्रमश: स्तंभ के तौर पर इसका लिखा जाना भी हो सकता है।

नेता जी पढ़ने लिखने में कमजोर और वर्तमान छल प्रपंच से परिचित व्यक्ति हैं। उनका निर्धारित लक्ष्य एक करोड़ रुपया है। जिसे वे किसी भी तरह अर्जित करना चाहते हैं। इसके लिए तमाम तरह के दांव-पेंच, छल-कपट, ठोंग, तिकड़म और चमचागिरी का सहारा लेते हैं। जोशी जी इन नेताओं की बखिया उधेड़ने के साथ उन्हें भी नहीं छोड़ते जो इन्हें कोसते भी रहते हैं और इन्हीं के भरोसे जीते भी रहते हैं। मध्यवर्गीय मानसिकता और इच्छाओं का बेनाक विश्लेषण करने के क्रम में इस अद्धेपूंजीवादी और अर्द्धसामंती समाज के विभिन्न अंतर्विरोधों और विसंगतियों को अपनी विशिष्ट व्यंग्य शैली में परत-दर-परत उद्घाटित भी करते चलते हैं।

"बेशर्ममेव जयते" प्रेम जनमेजय की दूसरी व्यंग्य रचना है। यह छोटी-छोटी कहानियों का फलक लिए हुए है। एक साथ कहानी और व्यंग्य का दोहरा स्तर बना रहता है। प्रेम-जनमेजय व्यंग्य में खासियत रोजमर्रा की टकराहट से पैदा होती है।

जोशी जी की तरह प्रेमजनमेजय के व्यंग्य का कोई एक नायक नहीं, पर यह नायक भी मध्य वर्ग का है जिसे इस असमान और विसंगतिपूर्ण समाज में जीने के लिए बेशर्मी का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे शब्दों में 'बेशर्ममेव जयते' के विभिन्न नायक उन्हीं प्रपंचो का सहारा लेते हैं। जिनको जोशी जी के नेता जी अपनाते हैं। बेशर्ममेव जयते चुनावी प्रपंच और पूंजीवादी राजनीति के खोखलेपन को तो सामने लाता ही है, इसके अलावा शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार और कुरीतियों को भी स्पष्टता से व्यस्त करता है।

जोशी जी के सामने जनमेजय सी समस्या नहीं है। नेता और किसके पारस्परिक संबंध और उसके मार्फत उसके इर्द-गिर्द के चंद अनुभव, जिसका चित्रण जोशी जी करते हैं। व्यंग्य में कुशल होने के बावजूद वे अपने निशाने में चूकते हैं, जिन घटनाओं और प्रसंगों के माध्यम से कथा कहने की कोशिश की गई है, वे सब सार्थक हैं। पर इनके प्रतिव्यंग्यकार का 'एप्रोच' थोड़ा भटका हुआ है। विशिष्टता का आग्रह अनपेक्षित होगा पर सही नब्ज पर तो ऊंगली रखनी चाहिए थी। नायक के रूप में एक अदना नेता जो अब तक एम० पी० भी नहीं बन सका है। असल चोट तो उन बड़े नेताओं और उनको जचाने वाले चंद खास लोगों पर होनी चाहिए थी, जो नेपथ्य में रहते है और जनता के सामने अच्छी इमेज बनाए रखते हैं। सभी व्यंग्य वह है जो सत्य उद्घाटित करे और सत्य एक ठोस वस्तु है। अनुभव की निस्संगता प्रतिभासित सत्य ही देख पाती है। और जोशी जी की यह सीमा है।

जोशी जी ने अपने व्यंग्य में बैसवाड़ी और भोजपुरी बोलियों का अच्छा संयोजन किया है । स्थानीय बोलियों की मदद से नेता का चरित्र जीवन बना है । पर कहीं-कहीं ऐसा आभास होता है कि जबरन बोली का इस्तेमाल किया जा रहा है । इससे संप्रेषणीयता बाधित हुई है ।

'नेता जी' अपने समय सत्य की पहचान बन सकता था । यदि जोशी जी ने वस्तुनिष्ठ दृष्टि से काम लिया होता । दृष्टि की वस्तुनिष्ठता सनातन साहित्य का संस्कार देती है और रचना को समय का जीवंत दस्तावेज बनाती है । इसकी कमी खलती है ।

प्रेमजनमेजय का कोई एक नायक नहीं और न उनके कथा-फलक का सीमित दायरा है । संभवत: इसी कारण जनमेजय कुछ एक रचनाओं में गहरा विश्लेषण न कर मात्र 'कमेंट' करते हैं । इसकी वजह अनुभव की कमी हो सकती है । दरअसल एक रचनाकार सृजन के क्षणों में अनुभूत सच्चाइयों से टकराता है, इसमें जो पक्के और गहरे अनुभव होते हैं, जिनकी समस्त बारीकियों को लेखक सूक्ष्म स्तर पर विश्लेषित कर पाता है । उनकी सफल अभिव्यक्ति होती है । जहां थोड़ी कमी हो जाती है वह चूक जाता है ।

'बेशर्ममेव जयते' में जनमेजय ने कुछ सफल प्रयोग भी किये हैं । रंगीन टेलिविजन अपस्टडी लीव प्रकरण, मक्खियां, गलियों और भीड़, लिफ्ट की तलाश में इनके माध्यम से जनमेजय आशान्वित करते हैं इन व्यंग्यों में व्यक्त सच को पाठक महसूस करता है, उसे जीता है । इन रचनाओं में जनमेंजय सामाजिक चेतना संपन प्रतीत होते हैं । पर तुरंत झटका लगता है । जब पाठक चिपको आन्दोलन और शिक्षा खरीदो—शिक्षा बेचो से गुजरता है । इनमें जनमेजय क्रमश: चिपको आन्दोलन की सामाजिक आवश्यकता और युवा आक्रोश के प्रति गलत नजरिया अपनाते है । समग्र जीवन दृष्टि तो रचनात्मक संघर्ष से अर्जित होती है, पर एक स्वस्थ दृष्टि की 'डिमांड' तो लेखक से की ही जा सकती है । कुछ व्यंग्यों में व्यंग्य का स्तर बिलकुल स्थूल है बीच का मोसम, अघपरीक्षक वृतांत; 'आफ महीना मार्च का' से निराशा होती है ।

यह एक दूसरे विवाद का विषय हो सकता है कि 'सत्य मेव जयते' के वजं पर 'बेशर्म मेव जयते' कहना कहीं तक उचित है। इस संदर्भ में एक दृष्टि कोण तो यह हो सकता है कि हमें अपने राष्ट्रीय प्रतीकों का गलत इस्तेमाल या भ्रष्ट प्रयोग नहीं करना चाहिए । दूसरा तर्क यह हो सकता है कि जब पूरी व्यवस्था ही पैरोड़ी बनी हुई हो तो एक रचनाकार इससे किस हद तक अछूता रहेगा । जबकि वह संवेदनशील प्राणि है ।

दोनों व्यंग्य रचनाएं कमियों के बावजूद आश्वस्त करती हैं । हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य विद्या की जो परंपरा कायम की । उसका एक दूसरे तरीके से इन रचनाओं में विकास हो रहा है । दोनों व्यंग्यकारों में एक बात समान रूप से कटकती है सही दृष्टि है का अभाव जिसकी वजह से इनका व्यंग्य कहीं-कहीं स्थूल और मोथरा दीख पड़ता है ।

समीक्षित पुस्तकें

1. नेता जी कहिन—मनोहर श्याम जोषी ; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, 8, नेता जी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002 पृष्ठ संख्या—165 ; मूल्य 30/रुपये ।

2. बेशर्म मेव जयते—प्रेमजनमेजय; प्रकाशक-पराग प्रकाशन, 3/114, कर्ण गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-32; पृष्ठ संख्या 111 ; मूल्य 16/- रुपये

306, जे० एम० यू०, नई दिल्ली-110067

(पृष्ठ 15 का शेषांश)

पूरा हो चुका था । उस समय तक भारत का काम अत्यन्त ही अस्तव्यस्त और अधूरा था ।

पूर्वी जर्मनी में बर्लिन से काफी दूर एक स्थान है, गोथा । वहां एक अत्यन्त प्राचीन पुस्तकालय है 'फोरशुंग्लस बिब्लियोथेक' (शोध पुस्तकालय) । इसकी स्थापना सन् 1947 में ड्यूक प्रथम अन्सेंठ द्वारा हुई थी । इसका मूल उद्देश्य दुर्लभ पुस्तकों को इकट्ठा करना था । देश-विदेश में यात्रा करके लोग इसके लिए पुस्तकें जुटाते रहे । ऐसे लोगों में इलटिश जास्मार का नाम आदर सहित लिया जाना चाहिए जिन्होंने अकेले पूर्वी देशों से लगभग 1800 हस्तलिखित पोथियां जुटाई थीं । उनमें अधिकांश भारत की थीं ।

इस पुस्तकालय का पता मुझे लगभग एक साल बाद लगा और मैंने वहां पहुंचने का अथक प्रयास किया । किसी समाजवादी देश में सरकारी आदेश या आज्ञा पत्र के बिना कहीं भी प्रवेश संभव नहीं । अंत में, चलते-चलते मुझे सफलता मिली । मुझे तीन दिनों का प्रवेश-पत्र मिला । मेरी पत्नी भी मेरे साथ थीं । हम दोनों ने मिलकर हिन्दी की चार हस्तलिखित रचनाओं का ब्योरा जल्दी-जल्दी अंकित किया । उनमे 'भरत विलाप कथा,' 'सीता स्वयंवर,' 'बारामास्यौ,' तथा 'संयोग' हस्तलिपियां हिन्दी की थीं । तीन दिनों में न तो उन पोथियों पर कोई काम किया जा सकता था और न ही उनको उतारा ही जा सकता था । इस लिए, मैंने वहां के पुस्तकाध्यक्ष डा० फ्युल्तर से बातचीत की । वे 70 वर्षीय व्यक्ति थे तथा वहां वे 32 वर्षों से पुरानी हस्तलिपियों के संरक्षक थे । ईसाई धर्म मानने वाले वे एक कैथोलिक थे इसलिए, वर्तमान सरकारी व्यवस्था से असंतुष्ट भी थे । उनकी सहायता से मुझे दो हस्तलिपियों ('सीता स्वयंवर' और 'भरत विलाप') की माइक्रोफिल्म मिल गई । परन्तु; ज० ज० ग० सरकार की ओर से मुझे वह इस शर्त के साथ मिली कि उसका प्रकाशन मैं नहीं करवा सकता । परिणामत: उन हस्तलिपियों की माइक्रोफिल्म आज तक बेकार पड़ी हुई है ।

—रीडर—स्नातकोत्तर विभाग—हिन्दी, छोटी खंजरपुर, भागलपुर, बिहार

प्रतिक्रियाएं

आजकल में प्रकाशित सामग्री पर पाठकों के बहुत सारे पत्र आए हैं। सभी पत्रों को प्रकाशित करना यहां संभव नहीं हैं इसलिए, चुने हुए कुछ पत्रों का सारांश यहां दिया जा रहा है।

मनोज कुमार "सुमन" (पूर्वी लोहानीपुर, पटना) लिखते हैं कि "आजकल" के नवंबर अंक की सभी सामग्री, चाहे वह कहानी हो या लेख, लाजवाब है, केशव पांडे की कहानी कैकटस में नई पीढ़ी की दुविधाजनक स्थिति को इंगित किया गया है जो मन-मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव छोड़ती है। डा० प्रसाद लिखित "बाल कहानी : दृष्टि-समन्वय" पर भी ज्ञानवर्धक एवं रूचिकर है कविताओं में "कोई उसे बताए" और "दीपावली" पसंद आई।

महेन्द्र उपाध्याम (डालटन गंज बिहार) लिखते हैं कि यह पत्रिका बहुत सस्ती तो है ही, इसमें साहित्यकारों को श्रेष्ठ रचनाएं पढ़ने को मिलती हैं, उन्होंने सुझाव दिया है कि इसमें व्यंग्यात्मक रचनाएं भी प्रकाशित की जाएं। दिसम्बर अंक में उन्हें प० बनारसी दास चतुर्वेदी से भेंटवार्ता व भगवत शरण उपाध्याय पर लेख बेहद पंसद आए।

राम यतन प्रसाद (माध्यमिक विद्यालय, अथमलगोला, पटना) लिखते हैं कि आजकल का प्रत्येक अंक अपने आप में महत्वपूर्ण होता है। रामजी शरण दांगा (जगदलपुर, म० प्र०) लिखते हैं कि पत्रिका का स्थाई स्तंभ भेंटवार्ता बेहद अच्छा लगता है। हर माह पत्रिका में एक कवि या साहित्यकार से परिचय तो करा ही देते हैं। सच्चिदानंद सिंह (प्रताप निवास, परसाबाद, हजारी बाग को दिसंबर अंक काफी स्तरीय प्रतीत हुआ। अब्दुल मलिक खान की कविता "जले तितलियां छांव तले" उनको अच्छी लगी। इसमें कवि ने एक यथार्थ एवं सामयिक बोध को पैनी, व्यग्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्हें प्रो० केसरी कुमार जी ने अपने अभिमत "हिन्दी आलोचना अपने संदर्भ से कट गई है" में एक ज्वलंत सत्य को उजागर किया है। "कजरी" "वे गली वाले" कहानियां भी उन्हें पसंद आईं। वासु देव (कार्यालय, मंडलीय अभिमाला, रांची) के अनुसार यह पत्रिका अब पठनीय ही नहीं अपितु संग्रहणीय भी बन गई है। उनके अनुसार दिसंबर अंक में पुष्पाल सिंह का "निबंध," "समकालीन कहानी ग्रामीण कथा लेखन" का मुहावरा में स्वतंत्रता के बाद ग्रामीण परिवेश में लिखी गई कहानियों का बहुत ही सुन्दर एवं स्टीक मूल्यांकन किया गया है। गणेश पांण्डेय ने गंवई का रंगमंच लेख में एक अछूतं एवं उपेक्षित मुद्दे को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार "पृथ्वी और स्वर्ग" एक अच्छी कहानी काफी अरसे बाद देखने को मिली है। केसरी कहानी बर्तमान परिवेश पर एक सुन्दर एवं सार्थक व्यंग है। राजेन्द्र श्रीवास्तव (व्याख्याता, पाठक वार्ड, बीना म० प्र०) लिखते हैं कि आलकल के दिसम्बर अंक में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित लेखक सम्मेलन के संबध में टिप्पणी अत्यंत सराहनीय है। सम्मेलन का बिषय समाजिक परिवर्तन में लेखक की भूमिका) अत्यंत सामयिक एवं महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार "समकालीन कहानी ग्रामीण कथा लेखन का मुहावरा" जैसे लेखों का प्रोत्साहन मिलना चाहिए। गुप्तेश्वर शंकर "गुप्तेश" (भारतीय स्टेट बैंक, दौलतगंज, छपरा, बिहार) लिखते हैं कि आजकल "हिन्दी") के यशस्वी संपादक के रूप में आप हिन्दी भाषा व साहित्य की जो सेवा कर रहे हैं वह चिरस्मरणीय है। शंभू प्रसाद (रेलवे कालोनी, सासाराम) लिखते हैं कि दिसंबर अंक में "गंवई का रंगमंच" तोरव गंवई रंगमंच की समयगत सच्चाइयों का सही निरूपण है। उनका है कि यही एक मात्र पत्रिका है जो हर बार अधिक से अधिक नये रचनाशील प्रतिभाओं की रचनाएं छापती है। हास्य-व्यंग्य की कमी अवश्य अनवरती है। डा० बनवारी सिंह, (सी7/72, सनपुरा, वाराणसी) के अनुसार जनवरी अंक में सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर और चंद्रकांता जी के साथ अन्य साहित्यकारों के लेख नवीनता लिए हुए हैं। मणिलाल आत्मज (आजाद पार्क, गया) लिखते हैं कि आजकल के जनवरी अंक में गणतंत्र दिवस पर आत्म परीक्षण से भरपूर है। नवगीत पर श्री राजेन्द्र प्रसाद सिंह का लेखश्लाघनीय है। अजित कुमार का श्री गिरिजाकुमार. माथुर : कुछ इम्प्रेशन बहुत ही अच्छा लगा। जैनेन्द्र कुमार से बातचीत में मौलिक प्रश्न को सामने रखा गया है। कहानियों में राजेन्द्र शर्मा की कहानी "बर्फ में दबे शरीर" मन पर अमिट छाप छोड़ती है। इस अंक की कविताएं व गजलें मन को बांधे बिना नहीं रहतीं। प्रभाकर माचवे की दु-चित्ते सशक्त रचना है। अवधेन्द्र नारायण का गीत बहुत ही कोमल एवं स्वाभाविक है जिसके लिए साधुवाद/मधुर नज्मी की गजलों में "मोम का जिस्म अब छेड़िये, ओढ़िये आग का आवरण" तथा "ओस की बूंद सा आदमी, रेत के घर में मेहमान है" जैसी पंक्तियां मन बांधे बिना नहीं रहतीं।

बच्चों की लोकप्रिय मासिक पत्रिका

बाल भारती

प्रकाशक

प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय,
भारत सरकार, पटियाला हाउस, नई दिल्ली

एक प्रति : 1.20 रु० वार्षिक : 12.00 रु०

वा ता य न

अभिनंदन—एक साहित्यकार का

हाल ही में गाजियाबाद नगर के साहित्यप्रेमी नागरिकों ने नगर के बहुचर्चित लेखक एवं पत्रकार श्री चंद्रदत्त 'इंदु' का बड़े ही गरिमापूर्ण ढंग से अभिनंदन किया। यह अभिनंदन श्री 'इंदु' द्वारा दूरदर्शन के लिए लिखित नाटक "जय बजरंगबली" को अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित नाटक प्रतियोगिता के प्रथम पुरस्कार (चार हजार रुपये) से पुरस्कृत किए जाने के उपलक्ष्य में किया गया था। समारोह की अध्यक्षता दिल्ली स्थित उत्तर प्रदेश के रेजिडेंट कमिश्नर श्री देशराज सिंह ने की। मुख्य अतिथि थे गाजियाबाद के जिलाधीश श्री टी. जार्ज जोसेफ। नागरिकों की ओर से विभिन्न संस्थाओं ने माल्यार्पण कर 'इंदु' जी का अभिनंदन किया तथा उन्हें पारंपरिक ढंग से कश्मीरी शाल भेंट किया गया।

प्रमुख वक्ताओं में थे एम० एम० एच० स्नातकोत्तर कालेज के प्राचार्य डॉ० जयचद्र राय, शंभूदयाल स्नातकोत्तर कालेज के प्राचार्य श्री एम. एल. गोस्वामी, गाजियाबाद के भूतपूर्व पालिका अध्यक्ष श्री पी० चंद्रा, प्रकाशन विभाग के संपादक श्री रामेश्वर उपाध्याय तथा नगर के प्रमुख समाजसेवी श्री दिनेशचंद्र गर्ग एवं युवक कांग्रेस (एस.) के नेता श्री सतीशचंद्र शर्मा।

गाजियाबाद के नागरिक श्री चंद्रदत्त 'इंदु' को एक विशिष्ट संदर्भ में अधिक जानते हैं और वह संदर्भ है "गाजियाबाद का इतिहास।" लगभग 6 वर्ष से इंदुजी गाजियाबाद क्षेत्र के प्रामाणिक इतिहास के लेखन कार्य का संचालन कर रहे हैं। इस कार्य में उनके अनेक इतिहासकार-पत्रकार मित्र लगे हैं। इन्हीं के प्रयास से इस नगर में 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम युद्ध की स्मृति में जो हिंडन तट पर लड़ा गया, हिंडन क्षेत्र में एक शिलालेख की स्थापना भी की जा चुकी है।

इस कार्य के महत्व को देखते हुए इतिहासकार डा० जयचंद्र राय ने कहा कि इतिहास के लेखन का कार्य तो चलता रहता है किंतु 'इंदु' जी ने इस क्षेत्र के इतिहास को जगाया है। श्री गोस्वामी ने 'इंदु' जी के लेखन की सराहना करते हुए कहा कि 'इंदु' जी के लेखन को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता व सम्मान मिला, यह इस नगर के लिए गौरव की बात है।

जिलाधीश श्री जोसेफ ने कहा कि राष्ट्रीय चेतना को जन-स्तर पर जगाने के लिए नाटक सबसे सफल व प्रभावी माध्यम है। नाटक 'जय बजरंगबली' इस दिशा में एक सफल प्रयोग है।

श्री रामेश्वर उपाध्याय ने श्री "इंदु' के मौलिक सृजन की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए कहा, 'इंदु जी की लेखनी चमत्कारपूर्ण है।" अब तक उनको पांच पुस्तकों पर केंद्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों के पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। किसी भी भी नाटक की पांडुलिपि पर दिया जाने वाला यह सबसे बड़ा पुरस्कार है। भारत सरकार का प्रकाशन विभाग भी इनकी कई पुस्तकें छाप चुका है। 'इंदु' जी ने पहली बार वन्य जीवन के ऊपर बच्चों के लिए रोमांचकारी उपन्यास 'राम गंगा का शेर' लिखा। 'इंदु' जी में साहित्य प्रतिभा तो है ही, उनमें संयोजन क्षमता भी अद्भुत है।

श्री चंद्रदत्त 'इंदु' ने अब तक 25 पुस्तकें लिखी हैं। हिंदी की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में वह लिखते हैं। मूलतः कवि होने के नाते गद्य में भी उनकी काव्यमय शैली का चमत्कार दर्शनीय है।

'इंदु' जी बाल साहित्य के विशिष्ट लेखक हैं। रेडियो से अब तक उनके दर्जनों नाटक प्रसारित हो चुके हैं। विशेष रूप से सामाजिक विषयों पर आकाशवाणी से उनके नाटक नियमित रूप से प्रसारित होते रहते हैं। उनके गीतों में भी राष्ट्रीय चेतना का स्वर मुखरित होता है। इस तमाम साहित्यिक क्षमताओं के धनी 'इंदु' जी भारतीय संस्कृति के परम पुजारी हैं। संस्कृत साहित्य से उनका निकट का परिचय है। भारतीय शास्त्रों में उनकी गहरी पैठ है। वेद-उपनिषद-पुराण और दूसरे ग्रथों के सूत्र-वाक्यों को पकड़ कर, उन पर कहानियां लिखने में वह सिद्धहस्त है।

शिवकुमार गोयल
'धर्मदूत' पाक्षिक, पिलखुवा

बेगम का 'तकिया' का मंचन

विजय जोशी

पश्चिमी उत्तर प्रदेश के नगर देहरादून में, जहां रंगमंचीय गतिविधियां गत वर्षों से अपने पूर्ण यौवन पर रही हैं, गत दिनों युवा, रंगकर्मियों की प्रसिद्ध संस्था "युवमंच" द्वारा नाटक "बेगम का तकिया" का मंचन किया गया। बेगम का तकिया "पंडित आनंद कुमार का प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिस पर एकाध प्रस्तुति दिल्ली जैसे महानगर में ही हुई तत्पश्चात् युवा रंगकर्मी सुरेन्द्र भंडारी के द्वारा रूपान्तरित एवं निर्देशित यह प्रस्तुति अनेक कारणों से दून रंगमंच के इतिहास मे यादगार बन गई।

"बेगम का तकिया" की कथा दो भाईयों की कहानी हैं। जो आपस में प्रेम से रहते थे परन्तु जिनके बीच धन और स्त्री ने आकर दूध में खटास, आपस में फूट और दर्द में टीसें पैदा कर दी। कहानी लोभ, मोह, वासना, तृष्णा, कर्म और अकर्म के मध्य एक खींचतान हैं साथ ही अदृश्य के नियोजित निर्णयों और मनुष्य की महत्वकांक्षाओं की प्रतीकात्मक व्याख्या हैं। नाटक की एक विशेषता यह भी हैं कि इसमें छोटो के मुंह से बड़ी बातें कहलवा दी गईं।

आनंद कुमार का उपन्यास जहां अपने आप में सशक्त है वहां नाट्य रूपान्तर शायद उतना सशक्त नहीं बन पाया और यही कारण रहा कि अधिकतर पात्र अलग थलग से दिखाई पड़े। कुछेक पात्रों अमीना के रूप में कल्पना शुक्ला, "मीरा" के रूप में राहुल शर्मा, बुन्दु के रूप में रमेश डोबरियाल ने स्वाभाविक अभिनय प्रस्तुत कर दर्शकों के मन पर छाप छोड़ी। अनुभवी कलाकार मुकेश घस्माना, सुरेन्द्र भंडारी, निवेदिता उनियाल में आत्मविश्वास की कमी झलकी जबकि छोटी-छोटी भूमिकाओं में संजय सिंह, प्रदीप शर्मा, रविन्द्र शर्मा आदि जमें ! मंच व्यवस्था कम परिधि में होने के बावजूद भी ठीक रही। प्रकाश संयोजन (श्री अनिल गुप्ता) एकाध दृश्यों को छोड़कर उत्तम रहा।

—1/1043, जोड कुंआं सहारनपुर-27001

तुर्की नृत्य महोत्सव

कृष्ण कुमार श्रीवास्तव

पिछले दिनों उत्तर प्रदेश सांस्कृतिक कार्य निदेशालय तथा भारतीय सांस्कृतिक परिषद नई दिल्ली के संयुक्त तत्वाधान में तुर्की के लोक नृत्यों का प्रदर्शन रविन्द्रालय के प्रेक्षागृह में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया।

इसमे तुर्की के पांच विभिन्न क्षेत्रों के लोक नृत्यों को दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया गया। पहले एलजिक नत्य जिसमें नर्तक नर्तकियों के हाथ में जलती हुयी मोमबत्ती लेकर के अन्धेरे से प्रकाश की ओर बढ़ते हुये दिखाया गया यह तत्व आगे चल कर के वैवाहिक नृत्य में परिवर्तित हो गया।

तुर्की के लीक नृत्यों मे सामुहिक रूप से पैरों और शरीर का संचालन दर्शाकों के लिये कौतुहल का वि षय रहा क्योंकि इसमे भारत के मछुवों एवं बंगाल के नृत्यों तथा नागालैण्ड के नृत्यों की झलक दिखाई पड़ी।

सिल्फकी (चम्मच नृत्य) नृत्य में तुर्की के लोक नृतक नर्तकियाँ अपने हाथों में दो-दो चम्मच लेकर के ताल में ताल मिला करके अपने दैनिक खुशियो का इजहार करते हैं. इसी प्रकार 'ब्लेक सी नृत्य' में नर्तक अलग-अलग रंग बिरंगी पोषाको में अपने देश की उमंग एंव खुशियों को प्रगट करते हैं. बिगोल नृत्य (गिद्ध नृत्य) में तो दर्शक नर्तको के साथ झूमने लगे।

तुर्की के लोक गायक 'ओ जाई कोनूल्' दर्शकों के प्रमुख आकर्षण रहे उन्होंने अपने यहां के परम्परागत विभिन्न वाद्यों को बजाकर के वहां के लोक गीतों को सुन करके दर्शकों का मन मोह लिया. उन्होंने जब हिन्दी मे नमस्ते कहकर के कहा कि आपसे मिलकर बड़ी खुशी हुयी सुनकर दर्शक आश्चर्य चकित रह गये उन्होंने जब फिल्म आवारा का गाना 'आवारा हूं। तथा बंगाल का लोक गीत सुनाया तब हाल बड़ी देर तक तालियों की गड़गड़ाहट से गूंजता रहा, तुर्की नृत्य लखनऊ के दर्शकों को हमेशा याद रहेगा।

—लक्ष्मण निवास, बहादुर खेड़ा आलमबाग लखनऊ-226005

Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at Civil Lines Post Office, Delhi. [R. N. 701/57

पिछले दिनों राजधानी में भारत के नौवें अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म-समारोह की धूम रही। 3 जनवरी, 1983 को तत्कालीन सूचना और प्रसारण मंत्री श्री एन० के० पी० साल्वे ने दीप जलाकर समारोह का उद्घाटन किया।

इस समारोह में भारतीय फिल्म 'चोक' को विशेष जूरी पुरस्कार मिला। नीचे के चित्र में उपराष्ट्रपति श्री एम० हिदायतुल्ला 'चोक' फिल्म के निर्देशक श्री उपलेन्दु चक्रबर्ती को पुरस्कार देते हुए।